अक्षर सत्य

[TRUTH ETERNAL]

समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़, उ० प्र०

की मौलिक कृतियों का उर्दू से हिन्दी में

लक्ष्मी शंकर

द्वारा अनूदित हिन्दी संस्करण जिसमें शाहजहाँपुर के

महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज

अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन द्वारा लिखित

समर्थ गुरु श्री रामचन्द्रजी महाराज, फतेहगढ़, उ० प्र०

की एक संक्षिप्त जीवनी भी सन्निहित है ।

प्रकाशक

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण : १९८२ : २२०० प्रतियाँ

प्रकाशक द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : रु० १२·०

मुद्रक
एकेडमी प्रेस
दारागंज, प्रयाग

प्राक्कथन

"सहज-मार्ग" यौगिक साधना पद्धति के आदिगुरु, फतेहगढ़ (उत्तर प्रदेश) निवासी, समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज ने अपने जीवन काल में विविध दार्शनिक विषयों पर भाषण दिया था, लेख लिखा था तथा तमाम गुत्थियों का उद्घाटन अभ्यासियों को लिखे पत्रों में किया था। इन सबसे उनका एक विशाल साहित्य तैयार हो गया था।

आदिगुरु की लिखी कृतियों का अधिकांश उनके सुपुत्र श्री जगमोहन लाल जी के पास था जिन्हें उन्होंने अपने जीवनकाल में बहुत ही सावधानी से संजोकर रखा था। दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके घर की नौकरानी ने उन्हे रद्दी समझ कर बेच दिया। इस प्रकार वह अमूल्य साहित्य खो गया। फिर भी यह हमारा सौभाग्य है कि उनके कुछ लेख उनके आध्यात्मिक प्रतिनिधि श्री रामचन्द्र जी महाराज, संस्थापक अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश) के पास उपलब्ध थे। इन लेखों का प्रकाशन मिशन की आध्यात्मिक पत्रिका "सहज-मार्ग" में लेख के रूप में सितम्बर, १९५८ से क्रमागत प्रारम्भ हुआ था। कालान्तर में आदिगुरु की जन्म शताब्दी के पुण्य अवसर पर पचीस फरवरी १९७३ को उन मूल लेखों का अंग्रेजी अनुवाद (Truth Eternal) के नाम से प्रकाशित हुआ। हमें हर्ष है कि इस पुस्तक का आध्यात्मिक जगत में सर्वत्र हार्दिक स्वागत हुआ।

हिन्दी भाषियों के हृदय में इस अनूठी कृति से पूरा-पूरा लाभ उठाने की बड़ी उत्सुकता थी। अतः उनकी सेवा में उसका यह हिन्दी संस्करण 'अक्षर सत्य' प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ा हर्ष है।

प्रस्तुत पुस्तक मुख्यतया (Truth Eternal) का हिन्दी रूपान्तर हैं, परन्तु मूल लेखों का पुनः परीक्षण कर इसमें उनकी मौलिकता का सत्त्व यथासम्भव बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है। इस हिन्दी अनुवाद के लिए हम मिशन के प्रशिक्षक श्री लक्ष्मी शंकर के प्रति आभार प्रकट करते हैं।

आशा है आध्यात्मिकता का विकिरण करने वाला यह अमूल्य रत्न सभी जिज्ञासु हृदयों को प्रदीप्त करेगा।

अधीक्षक
प्रकाशन विभाग
श्री राम चन्द्र मिशन
शाहजहाँपुर (उ० प्र०)

बसंत पंचमी
दि० ३०-१-८२

۷۸۶

ہو

بعد تسلیم ۔۔ و دعا ۔

خط ملا ۔ میں اور عزیز برکھبر دیالی جی ادھر گئے تھے

کل واپس آئے ہیں ۔ حالات لکھے ہیں وہ کہ سب

قابل شکر کے ہیں ۔ یہ نعمت فنائے ما کی ہے جس

بعد انشاء اللہ العزیز نعمت بقا کی اس درگاہ سے بخشی جاوے

جس درجے تک حال کی فنا ہوتی ہے اسی مقدار کے موافق

بقا بخشی جاتی ہے ۔ خوابات کی تعبیریں کیا لکھی جائیں

غرض تو مقصد سے ہے ۔ نشانات کو سمجھ کر اکتفا کیا

گیا ہے ۔ تفصیلات میں پڑ کر وقت کو ضائع کیا گیا ۔

باقی سب خیریت ہے ۔ ۱۵ ارتاریخ ... موجود گی

بذریعہ آپ ... ہوگی ۔ دہلی سے پھر

بکرمیتہ ۲۴ فروری ... ایٹہ میں ... دہلی جانا ہوگا ۔

سب کو سلام و دعا ۔

راقم رام چندر

۲ فروری ۱۹۳۱

लाला साहब का पत्र बाबू जी महाराज के नाम

बिरादरम सलामहु दुआ,

खत मिला । मैं और अजीज़ रघुबर दयाल जी ओरई गये थे । कल वापस आये हैं । जो हालात लिखे हैं वह सब के सब काबिल शुक्र के हैं । यह नियामत फना-ए-फना की है, जिसके बाद इंशा अल्लाहुल अज़ीज़ नियामत बका की उसी दरगाह से बख्शी जायेगी । जिस दर्जा और हाल की फना होती है उसी मिकदार के माफिक बका बख्शी जाती है । ख्वाबात की ताबीरें क्या लिखी जाएँ । गरज़ तो मकसद से है । निशानात को समझकर इक्तिफा कर लिया गया है । तफसीलात में पढ़कर वक्त को बचा लिया गया । बाकी सब खैरियत है । १५ लगायत १७ फरवरी मेरी मौजूदगी बशर्तें आबोदाना मैनपुरी में होगी । वहाँ से फिर २० लगायत २२ फरवरी सन् ३१ एटा में जलसा है, वहाँ जाना होगा । सबको सलाम व दुआ ।

रामचन्द्र, फतेहगढ़

१२ फरवरी, १९३१ ए० डी०

अनुक्रम

१. लालाजी	१ — ३३
२. वेद	३४ — ५१
३. कर्म	५२ — ६९
४. आध्यात्मिकता	७० — ८४
५. जीव और ब्रह्म	८५ — ८९
६. अज्ञान और ज्ञान	९० — १०३
७. सत्, चित् और आनन्द	१०४ — १११
८. ज्ञान-उपासना-सुख	११२ — १२१
९. सुख और दु:ख के तीन प्रकार	१२२ — १२६
१०. परमानन्द या ब्रह्मानन्द	१२७ — १२८
११. उच्चतम सत्य का अन्वेषण —चौथी अवस्था का संकेत	१२९ — १३२
१२. ब्रह्म	१३३ — १४७
१३. शब्द माहात्म्य	१४८ — १४९
१४. शब्द द्वारा सृष्टि और प्रलय	१५० — १५४
१५. साधना-अभ्यास द्वारा आत्म-साक्षात्कार	१५५ — १६४
१६. साधन : १. सत्सङ्ग २. अभ्यास	१६५ — १७१
१७. बन्धन और मुक्ति	१७२ — १७८
१८. मुक्ति का स्वरूप	१७९ — १८०
१९. मुक्ति का विषय	१८१ — १८२

अध्याय १

लालाजी

श्रेष्ठ जनों के जीवन क्रम
हमको याद दिलाते हैं,
हम भी अपने जीवन को
गरिमामय कर सकते हैं ।

पूर्व प्रभात काल—भारत के समसामयिक इतिहास में मध्यकालीन और अर्वाचीन काल को अन्धकार पूर्ण काल माना जाता है जिसमें महान बुद्धिजीवियों परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से बौनों का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि व्यक्तिगत आत्माओं का स्वयं-प्रतिष्ठित बन्धनों के विरुद्ध गुप्त एवं शान्त विद्रोह, तथा लक्ष्य तक पहुँचने की आन्तरिक उत्कृष्ट इच्छा, समय-समय पर उनके व्यक्तिगत स्वभावों के अनुसार विभिन्न प्रणालियों, तौर-तरीकों, रूप-रंगों में प्रकट होती रही, फिर भी, यह संघर्ष निरंतर चलता रहा, हालांकि इसका आभास केवल कुछ ही लोगों को हुआ, और इसकी वास्तविक प्रकृति का रहस्योद्घाटन तो और भी कम जनों को हुआ। अन्य लोगों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुधारों, सशस्त्र विद्रोह अथवा समाज के धार्मिक

कायाकल्प में शान्ति प्राप्त करने की कोशिश की। भारत के धार्मिक क्षेत्र में क्रियाओं एवं कर्मकाण्डों, रूपों, आकारों, एवं औपचारिकताओं का बोलबाला था। स्वामी रामतीर्थ के मतानुसार "मनमाने अन्धविश्वासों के प्रति अत्यन्त निम्नस्तरीय दासता का भाव फैला हुआ था और संप्रभुता के प्रति निष्ठा के बाह्यतः रमणीय नाम के अन्दर से आध्यात्मिक आत्महत्या झलकती थी।" नई विचार धाराओं पर आधृत नई संस्थाओं की स्थापना तो काल्पनिक आदर्श मात्र रह गई थी जब कि पॉल ब्रन्टन सरीखे निष्पक्ष परन्तु आशावादी पर्यवेक्षक प्रतिदिन एक नये आश्चर्य की प्रतीक्षा करते रहे। "स्वामी रामतीर्थ जैसे संत आश्वस्त थे कि बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भारत अपनी प्राचीन मौलिक महिमा को पुनः प्राप्त कर लेगा,···परन्तु बुद्धिजीवी जन वास्तविकता को प्राप्त करने का सही मार्ग ढूँढ़ने में व्यस्त थे"। अपने विचार प्रगट करते हुए डा० रामकृष्ण कहते हैं "आज की अस्थिर पीढ़ी को अपने लिए एक लक्ष्य स्थापित करने के लिये पैगम्बर सरीखी आत्मायें न कि पुजारी सरीखा बुद्धिवादी, मौलिक समझ के विचारक न कि पारम्परिक रीतियों के मंत्रवत् अनुकरण करने की आवश्यकता है"। आध्यात्मिकता में काफी प्रगति किये हुए स्वामी विवेकानन्द जैसे सन्त आश्वस्त थे कि एक दिन आयेगा जब मेधावी व्यक्ति आगे आयेंगे और महान आध्यात्मिक व्यक्ति भारत से विश्व के ओर छोर तक आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाने के लिये जायेंगे।

प्रभात काल—इस प्रकार के आशा और भय, बहके विश्वास, अनिश्चितता एवं संशय के युग में वसन्त पंचमी के शुभ दिन २ फरवरी, १८७३ को दैवी प्रकाश का धरती पर अवतरण हुआ। समर्थ गुरु महात्मा श्री रामचन्द्र जी का जन्म भारत के उत्तर प्रदेश में फतेहगढ़ नगर में हुआ था। इस अवतरण में प्रकृति ने मानों एक शांति वचन दिया, किंवा छद्म में एक वरद हस्त का प्रसारण हुआ और अज्ञात रूप से मानवता ने अपने को भार मुक्त करना एवं स्वयं आरोपित लौह-कड़ियों से अपने को मुक्त करना प्रारम्भ कर दिया।

पूर्व कथा—"लालाजी" जैसा कि उन्हें सामान्यतया कहा जाता था, जागीरदारों के एक उच्च घराने के व्यक्ति थे। मुगल सम्राट अकबर महान ने एक कुशल राजनैतिक होने के कारण हिन्दुओं से मित्रता की थी, बहुतों से पुनर्मैत्री की थी तथा वीरों को पुरस्कृत किया था। श्री लाला जी साहब के प्रपितामह श्री वृन्दावन बाबू एक विरल प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। अपने उत्तम गुणों और महान उपलब्धियों के कारण अकबर से उन्हें अबाध प्रशंसा एवं मैत्री, "चौधरी" की पदवी, तथा ५५५ गाँवों की जागीर प्राप्त थी। उन्होंने भूमिग्राम में जिसे आजकल मैन-पुरी जिले में भोगाँव कहा जाता है, अपना स्थायी निवास बनाया।

उनका परिवार वहाँ १८५७ के विद्रोह के बाद तक रहा परन्तु जब स्वतंत्रता के नाम पर आम अव्यवस्था, आगजनी और

लूट-खसोट का वातावरण वहाँ फैला तो भूमिग्राम में रहना दुष्कर हो गया। आदि गुरु के पूज्य पिता श्री हरबक्श राय फर्रुखाबाद जिले के फतेहगढ़ स्थान को प्रवास कर गये। यहाँ पर उन्होंने कर अधीक्षक का कार्य कर लिया और अपने परिवार के साथ रहने लगे। दुर्भाग्यवश, उस समय तक उनको कोई पुत्र न था और उन्होंने अपने भतीजे को गोद ले लिया था। यद्यपि विद्रोह के बाद की गड़बड़ियों के कारण उनकी सम्पत्ति को भारी क्षति पहुँची थी और धन नाश हो चुका था परन्तु फिर भी उनके पास पुराने और धनी रईसों की तरह रहन-सहन चलाने भर के लिए पर्याप्त सम्पत्ति थी। परन्तु परिवर्तन का यह समय उनके अनुकूल नहीं पड़ा और उनकी हैसियत गिरती ही गई। फिर भी अभी नौकर, नौकरानियाँ, आवश्यक साज-सामान से सुसज्जित एक पर्याप्त घर, वाहन, इत्यादि थे।

माँ का प्रभाव—लाला जी की माँ एक साध्वी महिला थीं। उनका हृदय भक्ति से भरा था और वे ईश्वर की ओर अत्यधिक आकर्षित थीं। वे सन्तों का बड़ा आदर करती थीं और जब कभी अवसर मिलता था, उनकी सेवा करती थीं। उनका स्वर बड़ा मधुर था और जब वे **रामचरितमानस** का सस्वर पाठ करती थीं तो श्रोता आनन्द से तन्मय हो जाते थे। दानशीलता उनका सर्वोत्तम गुण था, और कोई भी अभाव-ग्रस्त व्यक्ति यथासंभव उनके यहाँ कभी भी अस्वीकृत नहीं किया जाता था।

एक बार एक साधु फर्रुखाबाद आये हुये थे। वे अपने देवर के साथ उनके सत्संग में गईं। जब वह वहाँ पहुँचीं उस समय साधु कबीर की कुछ साखी गा रहे थे। वे साखियाँ उनके कोमल एवं प्रेम पूरित हृदय को कुछ इस प्रकार छू गईं कि उनके नेत्रों में आँसू भर आये और धीरे-धीरे वह उनमें इतनी लीन हो गईं कि अपने को पूरी तरह भूल गईं। उनकी अवस्था को देख कर साधु द्रवित हो गये और उन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया। वह दिन उनके जीवन का स्मरणीय दिन था। उस दिन से उनमें ईश्वर के प्रति प्रेम नदी की बाढ़ की भाँति बढ़ने लगा और ईश्वर का गुणानुवाद करते-करते वे बहुधा समाधिस्थ हो जाती थीं।

इस साधुता के होने के बावजूद भी वह एक महिला थीं और माँ बनना चाहती थीं। पुत्र का अभाव उनके हृदय को कुरेदता था। अवश्यम्भावी विधान के क्रम में अन्ततोगत्वा वह दिन आया और एक दिन एक अवधूत उनके घर आये। वह बैठ गये और भोजन माँगा जो उन्हें परसा गया। उसे खा लेने के पश्चात् अवधूत ने खाने को मछली माँगा। लाला जी की माँ वैष्णव थीं और उनके घर में मछली नहीं थी। अपने को अवधूत द्वारा इच्छित भोजन देने में असमर्थ पाकर उन्हें बड़ी वेदना हुई, और उन्होंने अपनी नौकरानी से पूछा कि क्या वह कोई व्यवस्था कर सकती है? सौभाग्य से वह नौकरानी बड़ी चतुर और सजग सेविका थी। उसने उन्हें बताया कि उनके पति के मित्र

नवाब साहब ने दो मछलियाँ भेजी थीं जो आसानी से उपलब्ध हो सकेंगी। इस पर वह बहुत प्रसन्न हुईं और मछलियों को लाने और साधु को परोसने का आदेश दिया। ऐसा हो जाने पर साधु बहुत प्रसन्न दीख पड़ा। वह उन दोनों पर मुस्कराया और और खड़ा हो गया। ऐसा लगा कि वह चला जायेगा परन्तु वह घूम पड़ा जैसे उसे कोई अन्तर्प्रेरणा हुई हो और पूछा, "तुम्हें क्या कष्ट है ?" वह चुप रहीं परन्तु नौकरानी ने तत्क्षण उत्तर दिया, "मेरी अच्छी मालकिन के पास एक पुत्र के अतिरिक्त सब कुछ है··· ।" 'ओह' कह कर साधु ने आकाश की गहरी नीलिमा के पार तक दृष्टि फेंकी। कुछ क्षण पश्चात् वह ज्योतिर्मान हो उठा और अपनी उँगलियों को आकाश की ओर उठा कर "एक···दो···एक···दो··· ।" ऐसा बड़बड़ाते हुये चला गया और फिर कभी नहीं दीख पड़ा।

उस देव-कृपा-पूरित-महिला के प्रथम पुत्र लाला जी—आदि गुरु—का जन्म २-२-१८७३ को हुआ था और दूसरे पुत्र श्री रघुवर दयाल (सामान्यतया 'चाचाजी' कहलाने वाले) १७-१०-१८७५ को पैदा हुये थे।

प्रारम्भिक जीवन और शिक्षा :—महान गुरुदेव के जीवन की लगभग सभी घटनायें अस्पष्ट हैं। उन्होंने कोई आत्मकथा नहीं छोड़ी और उनका केवल एक ही छायाचित्र (फोटो) उपलब्ध है। धीरे-धीरे वह इतने प्रसिद्ध हो गये और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के इतने प्रेम-पात्र बन गये कि कबीर की

भाँति, उनकी शिक्षाओं पर हर व्यक्ति अपनी छाप लगाने का प्रयास करने लगा तथा उनके लिखित अधिसंख्यक पत्रों एवं विशाल साहित्य को स्वयं अपने ही लिए आरक्षित करने लगा। सौभाग्य से कुछ व्यक्ति अब भी जीवित हैं जिन्हें उनका बहुत अधिक सामीप्य प्राप्त था और जो उनकी कृपा के भागी रहे। कुछ साहित्य भी उपलब्ध है जो कि उनके पोतों के पास है जिसे वे फतेहगढ़ में अपनी सुविधानुसार मुद्रित कराने को सोचते हैं।

लाला जी अपनी माँ को सुनाने के लिए **रामचरितमानस** असामान्य मधुर एवं रसोत्पादक स्वर से गाते थे जो उन्होंने उनसे उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया था। बालपन से ही उन्होंने अपने में संगीत के प्रति गहरा प्यार पैदा कर लिया था। उनमें किसी गाने को केवल एक बार ही सुन लेने पर उसके ध्वनि-गीत को बिल्कुल वैसा ही अनुकरण कर लेने की आश्चर्यजनक क्षमता थी। उनकी माँ के आध्यात्मिक जीवन का उन पर बड़ा प्रभाव था, और उस छोटी अवस्था में ही उन्होंने वास्तविकता के प्रति गहरा प्रेम पैदा कर लिया था। उनकी माँ, जब वह केवल ७ वर्ष के थे, तभी परलोक सिधार गईं। उनका पोषण एक अन्य महिला द्वारा किया गया जो उन्हें बहुत प्यार करती थीं और जिसके प्यार का प्रत्युत्तर पूरी तरह लाला जी ने दिया। उसके जीवन पर्यन्त लाला जी ने उसका बड़ा सम्मान किया। एक बार वह अपनी सब सम्पत्ति उन्हें दे देना चाहती

थीं पर उन्होंने दृढ़तापूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया। अपनी ओर से उसे उपहार तथा जिन्दगी भर सहायता देते रहे।

उन्हें एक निजी शिक्षक से उर्दू, फारसी, और अरबी की गहरी शिक्षा दी गई थी। हिन्दी उन्होंने अपनी माँ से सीखा। वह उर्दू कविता में भी दीक्षित थे। बाद में उन्होंने फर्रुखाबाद के मिशन स्कूल में अपनी शिक्षा पाई और अंग्रेजी माध्यमिक परीक्षा उत्तीर्ण की जो उस समय विश्वविद्यालय परीक्षा के नाम से जानी जाती थी।

विद्यालय के शिक्षण काल में वे एक बहुत छोटे कमरे में रहते थे। वहीं पर एक मुसलमान शिक्षक भी रहते थे जो बच्चों को निजी तौर पर पढ़ाते थे। वे लाला जी को बहुत चाहते थे और कभी-कभी उनकी पढ़ाई में सहायता किया करते थे। उनके शिक्षण काल में ही ईश्वर साक्षात्कार के प्रति उनका प्रेम बहुत अधिक विकसित हो गया था।

विवाह और गार्हस्थ्य जीवन – उनका विवाह एक संभ्रान्त परिवार की एक सौम्य महिला से हुआ था। घर में पर्याप्त सम्पत्ति थी। परन्तु लाला जी एक धनी व्यक्ति की भाँति नहीं रह सके क्योंकि ईश्वर की इच्छा थी कि वह साधु हो जायें और दुःख-संतप्त मानवता को वास्तविक मार्ग दिखायें। उनके पिता जी का देहावसान उनके विवाह के कुछ समय बाद हो गया। मैनपुरी के राजा ने उनकी पैतृक सम्पत्ति के विरुद्ध मुकदमा कर दिया। लाला जी हार गये और सारी सम्पत्ति बिक गई। लाला

जी को अपना घर छोड़ कर एक बहुत छोटे मकान में चला जाना पड़ा। उसी समय उनके बड़े भाई जिन्हें उनके पिता जी ने गोद ले रखा था काल कवलित हो गये। इस प्रकार की दुःखद घटनायें वीरों में वीर को विचलित कर देती हैं परन्तु लाला जी ने उनका सामना एक बहादुर की भाँति किया। हानियों की कुछ भी परवाह न कर अपने को हर नई परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित करते रहे। संयोगवश फर्रुखाबाद के जिलाधीश लाला जी के पिता के सहयोगी थे। जब उन्हें इन दुःखद बातों की जानकारी हुई तो उन्होंने लाला जी को फतेहगढ़ आमन्त्रित किया और उन्हें अपने कार्यालय में दस रुपये माहवार पर "पेड अप्रैन्टिस" नियुक्त कर लिया।

युवावस्था—सुगठित शरीर और औसत लम्बाई वाले लाला जी सौम्य मानवता के एक विशुद्ध नमूने के रूप में विकसित हुये। उनकी सौम्यता उनके आन्तरिक आत्मिक सुरम्यता की बाह्य अभिव्यक्ति थी। सृष्टि में एक ऐसे मनुष्य से बढ़ कर महिमामय वस्तु नहीं हो सकती जो परोपकारिता से सराबोर हो तथा जो स्रष्टा के जीवों का हित करते हुये सतत ध्यानशील रहे कि वह किस प्रकार उसे पूर्णतः स्वीकार्य हो जाये। उनका रंग गेहुँआ था तथा आकृति आकर्षक थी। उनका उन्नत मस्तक उनमें समाहित उस विशाल ज्ञान भंडार का प्रतीक था जिसका उपयोग उन्होंने स्वयं अपने देखने के निमित्त एक दीप के रूप में नहीं वरन् उस प्रकाश-स्तम्भ के रूप में किया, जिसका उपयोग

समुद्र-यात्रियों के मार्ग दर्शन के लिये किया जाता है। सबसे विलक्षण उनकी आँखें थीं जो दो चमकीले सितारों की भाँति ऐसी दिखती थीं मानों हर व्यक्ति तथा हर वस्तु के अन्तर को देख रही हों। वे अथाह गहराई की प्रशान्त झीलों की भाँति थीं। ऐसा प्रतीत होता था मानों सुषुप्ति एवं जागृति मिलकर उन नेत्रों में विश्राम पा रही हों जिनकी पलकों के मात्र एक संचालन में मनुष्य जागरण का अनुभव करता था। वे शान्त प्रार्थना-गृह थीं, अथवा लुभावनी आँखों के मधुर, शान्त अलंकार ! चूँकि वे प्रेम-प्रेरित प्रवृत्तियों से प्रभावित थे अतः उनके मुखमंडल पर उच्चतम कोटि की शोभा विद्यमान थी। उनके बालों से रेशम का सा स्पर्श मिलता था। सामने का एक दाँत अपेक्षाकृत बड़ा था। एक छोटी दाढ़ी और मूँछ उनके चेहरे की शोभा बढ़ाते थे। उनके कान औसत नाप के थे। उनके हाथ और पैर बड़े कोमल थे।

कीमती कपड़े उन्हें पसन्द नहीं थे और वे रेशम का प्रयोग शायद ही कभी करते थे। परन्तु जो भी वस्त्र वे प्रयोग करते थे सदैव साफ-सुथरे होते थे। वे सामान्यतया कुर्ता, कमीज, पायजामा और धोती पहनते थे। कभी-कभी वह कुर्ते के ऊपर सदरी और घुटनों तक का बन्द गले का कोट पहनते थे। सिर पर एक रंगीन टोपी पहनते थे और जाड़ों के मौसम में कंधों पर एक दुशाला लपेटते थे। वे कोई आभूषण नहीं पहनते थे। कम खर्चीला भोजन उन्हें बहुत पसन्द था। दिन में वह रोटी-

दाल और चटनी खाते थे जब कि रात्रि भोजन में सामान्यतया रोटी, सब्जी और अचार होता था। वह माँस, बर्फ या चाय का प्रयोग नहीं करते थे। कचौड़ी और अरवी उन्हें अति प्रिय थी।

उनका कार्यक्रम सदैव चुस्त रहता था। वे सूर्योदय के पश्चात् कभी नहीं सोते थे। दैनिक क्रिया से निवृत्त होने के बाद वे स्वच्छ वस्त्र पहनते थे तथा आध्यात्मिक साधना और दूसरों को प्रशिक्षित करने में जुट जाते थे। उसके पश्चात वे कार्यालय जाते थे। कार्यालय से वापस आने पर पुनः प्रशिक्षण प्रारम्भ कर देते थे। वे प्रतिदिन ७ और ८ बजे सायं के बीच भोजन करते और फिर थोड़ा टहलने जाते थे। उसके बाद वे पुनः अपने जिज्ञासुओं के प्रशिक्षण में व्यस्त रहते थे और रात्रि दस बजे सोने जाते थे, परन्तु सो नहीं जाते थे। वे तो अपने अनुयायियों आदि को दो बजे भोर तक प्राणाहुति देते थे। वे एक अलग कमरे में सोते थे, परन्तु यदि सत्संगी होते तो उनके साथ ही उसी कमरे में सो लेते थे। कभी-कभी वे गंगा तट पर टहलने जाते और बहुधा अपने मेहमानों को भी साथ ले जाते थे। कभी-कभी वे उन्हें परिवर्तन-भ्रमण के लिये मेला भी ले जाते थे।

प्रकृति एवं स्वभाव—जे० हाब्ज का विचार है—"एक कार्य बोइये, आप एक आदत प्राप्त करेंगे, एक आदत बोइये आप एक चरित्र प्राप्त करेंगे, एक चरित्र बोइये, आप एक भाग्य प्राप्त करेंगे। एक अच्छा चरित्र सदैव ही व्यक्तिगत श्रम का परिणाम है। यह माता-पिता से उत्तराधिकारी के रूप में नहीं प्राप्त

किया जाता। इसका निर्माण बाहरी लाभों से नहीं होता है। यह अपने ही परिश्रम का परिणाम है—यह अच्छे सिद्धान्तों का फल और पुरस्कार है जिसकी अभिव्यक्ति गुणों और सम्माननीय कृत्यों द्वारा होती है।" एक अच्छा हृदय, परोपकारी भावना, और एक संतुलित मस्तिष्क, चरित्र के आधार हैं। उसे इस योग्य होना चाहिये कि दैनिक कार्य, प्रलोभन, तथा परीक्षण के संसार में दृढ़ बना रहे तथा वास्तविक जीवन के स्वाभाविक ह्रास को सहन कर सके। लाला जी इसके एक ज्वलन्त उदाहरण थे।

स्वभाव से वे सदैव शान्त रहते थे पर दूसरों के दुःख-सुख से शीघ्र ही प्रभावित हो जाते थे। चूँकि उनका स्वर मधुर था अतः वे अपने विचारों को संचारित करने तथा श्रोताओं का हृदय जीतने में बड़ी कुशलता से मीठी भाषा का प्रयोग करते थे। वह बिरले ही क्रोधित किये जा सकते थे। वह फालतू बात नहीं करते थे और यथासंभव कम से कम बोलते थे। परन्तु, जो प्रश्न उनसे पूछे जाते थे उनके उत्तर देने में वे विस्तार में चले जाते थे और प्रश्नकर्त्ता को कभी भी कोई संदेह नहीं रह जाता था। यदि कभी ऐसा होता कि कोई उनकी बात न समझ सके तो वह उस व्यक्ति में इच्छित अवस्था पैदा कर देते थे जिससे उसे विषयान्तर्गत वस्तु का अनुभव और ज्ञान हो जाता था। चेस्टफील्ड का कहना है कि शान्ति और आत्मनिग्रह गुप्त शक्ति के परिचायक हैं। कार्लाइल का भी कहना है "वाणी

महान है, पर मौन महानतर है।" लाला जी साहब अधिकतर अपनी आँखें नीची रखते थे, जोर से नहीं हँसते थे, केवल मुस्करा देते थे। उनकी मुस्कराहट से अच्छाई और माधुर्य झंकृत होते थे और उनकी आध्यात्मिक संजीवनी से दूसरे दीप्तमान हो उठते थे। मानवता के महान प्रेमी, वे अक्सर दूसरों द्वारा प्रेमपूर्वक दी हुई वस्तुओं का प्रयोग कर लेते थे—उन वस्तुओं के प्रति अपनी व्यक्तिगत अरुचि के बावजूद भी। खुशामद से उन्हें घृणा थी और वे अपने अनुयायियों को उनकी कमियों के बावजूद भी प्यार करते थे, फिर भी वे एक कठोर अनुशासनवादी थे। अनुशासन सांसारिक उत्तेजना की निम्नता को ठीक करता है, हृदय को गुणात्मक सिद्धान्तों से दृढ़ता प्रदान करता है, मस्तिष्क को लाभकर ज्ञान से प्रकाशित करता है, स्वयं अपने अन्दर से सुख प्रदान करता है। अतः लाला जी प्रेमपूर्वक कठोर अनुशासन बरतने में कभी चूकते नहीं थे।

अपने सहभाइयों एवं अनुयायियों को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से वे एक गृहस्थ का कार्य अत्यन्त कुशलतापूर्वक करते थे। वे अपने से बड़ों को आदर देते थे तथा प्रणाम करते थे, समवयस्कों के प्रति बिना किसी दीनता के विनम्र भाव रखते थे तथा अपने से छोटों को प्यार करते थे।

नाश्ता करने की उनकी आदत नहीं थी। वे धूम्रपान भी नहीं करते थे। उन्हें ताश अथवा चौसर खेलना पसन्द न था।

कभी-कभी वे हारमोनियम पर गाना गाते थे। लाला जी कर्म-काण्ड के प्रबल विरोधी थे, विधवा विवाह एवं स्त्री शिक्षा के पक्षधर थे। उनकी इच्छाओं में एक यह थी कि सत्संगियों की सन्तानें आपस में विवाह करें, परन्तु जल्दी अथवा देर का विवाह उन्हें पसन्द न था। उनके सेवक उनके परिवार के सदस्य के रूप में रहते थे और उनका भुगतान सदैव निश्चित तिथि पर होता था। उनके अनुसार सेवक सहायक होते हैं और उन्हें उस काम पर लगाना चाहिये जो उनके मालिक आम तौर पर अपने आप न कर सकते हों। वचन तोड़ने तथा उत्सव के अवसरों पर अपनी हैसियत से अधिक खर्च करना उन्हें बिल्कुल नापसन्द था। चुगलखोर उनसे सहानुभूति नहीं पाते थे। इसके विपरीत उन पर कड़ी फटकार पड़ती थी—"तुम्हें गुप्तचर नहीं नियुक्त किया गया है"—कह कर उन्हें तुरन्त सही रास्ते पर ला देते थे।

कायमगंज से फतेहगढ़—लाला जी का स्थानान्तरण १९०८ में कायमगंज से फतेहगढ़ हो गया। उन्होंने अधिकांशत: अकेला रहना आरम्भ कर दिया और ईश्वर में विस्मृत रहने लगे। एक पुराना नौकर था जो घर का सारा कार्य करता था। लाला जी का व्यक्तित्व, जीवन-शैली और सामान्य व्यवहार उनके पड़ोसियों को बहुत अधिक प्रभावित करता था और वे उन्हें बहुत अधिक प्यार करते थे तथा बड़ा आदर देते थे। प्रारम्भ में कुछ अध्यापक उनके पास आये और तत्क्षण ही उनमें

परिवर्तन आ गया। अपने आप में एक बड़े परिवर्तन को पाकर उन अध्यापकों ने अपने व्यक्तित्व के उस परिवर्तन के बारे में जो बिना उनके प्रयास के ही हो गया था, कुछ विद्यार्थियों को बताया। इस पर वे विद्यार्थी लाला जी के पास आये और उनमें भी उसी प्रकार का परिवर्तन हो गया। इस आश्चर्यजनक नवीन पद्धति के बारे में सुनकर दूसरे लोग भी लाला जी के पास आने लगे। परन्तु लाला जी ने उस समय तक सामूहिक अथवा नियमित सत्संग नहीं प्रारम्भ किया था। वे लोगों में प्राणाहुति किया करते थे, उनकी आन्तरिक सफाई करते थे, तथा आवश्यक परिवर्तन लाते थे और कहा करते थे कि उनका कार्य एक झाड़ू लगाने वाले अथवा धोबी का था। जो कोई भी उनके पास आता था, पूर्णरूपेण स्वच्छ हो जाता था। जब उसका मानस शुद्ध हो जाता था तो उसके संस्कारों के अनुरूप उसे मार्ग प्रदर्शक प्राप्त हो जाता था। उनका सिद्धान्त था कि किसी भी अवांछनीय व्यक्ति को दीक्षा न दी जाये पर यदि कोई आ ही गया तो उसे वापस नहीं जाना चाहिये। गुरु कहलाने से उन्हें तीव्र घृणा थी। प्रशिक्षण के सम्बन्ध में वे कहा करते थे कि वे अपने अधिकारी के एक चपरासी मात्र थे। उन्हें तो अपने प्रयासों की सफलता या विफलता सोचे बिना ही केवल दैव का आज्ञापालन करना था।

न आनन्द, और न ही दुःख
हमारा ध्येय अथवा मार्ग है

मात्र कार्य करना जिससे हर कल
हमें आज से आगे बढ़ा पा सके।

लाला जी ने १९१४ से नियमित सत्संग और अपने अनुयायियों को प्रशिक्षित करना प्रारम्भ कर दिया। वे अपनी बीमारी की हालत में भी यह कार्य स्थगित नहीं करते थे। १९२९ में अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् वे अपना सारा समय अपने इस सुकृत्य में बिताने लगे। वह प्रतिदिन २-३ घंटे का समय पुस्तक, लेख तथा सत्संगियों के पत्रों के उत्तर लिखाने में देते थे। उर्दू, फारसी और अरबी के प्रकांड पंडित थे और उन्हें हिन्दी तथा संस्कृत का विशद ज्ञान था। उन्होंने महत्व-पूर्ण ऋचाओं की बड़ी सुन्दर व्याख्या देकर तथा वास्तविकता को प्रकाश में लाकर वेदों के अब तक के गुप्त भेदों को खोला। विवादास्पद पद-समुदायों और शब्दों को—जिनका प्रयोग सामान्यतया आप्त ग्रन्थों में हुआ है, पर जो आमतौर पर गलत समझे गये हैं—आसानी से समझ में आने वाले ऐसे स्व-निर्मित शब्दों द्वारा इतने सरल ढंग से समझाया करते कि वास्तविक ज्ञान जन सामान्य की सम्पत्ति हो जाती थी। दुर्भाग्य से, उनके अधिकांश लेखन उपलब्ध नहीं हैं—वे या तो गलत हाथों में चले गये हैं अथवा विस्मृति के गर्त में। उनके केवल १० लेख प्राप्त किये जा सके जिनका प्रकाशन शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश से "सहज-मार्ग" पत्रिका में हुआ।

यह शोक का विषय है कि उस दैवी प्रकाश, परम सत्य

ने अपनी पार्थिव उपस्थिति से इस धरा पर कृपावर्षण करना १४ अगस्त, १९३१ से बन्द कर दिया। जब उनकी बीमारी ने गम्भीर रूप ले लिया तो वे ईश्वर चिन्तन में निमज्जित रहने लगे थे और हृदय विदारक प्रेम विरह की अनुभूति करने लगे थे। वह कहा करते थे।

"वादये वस्ल चूँ शवद नज़दीक
आतशे शौक तेज़-तर गरदद।"

"जैसे जैसे प्रिय में विलीन होने का समय नजदीक आता है वैसे-वैसे उनके प्राप्त करने की इच्छा की ज्वाला धधकती जाती है।"

अपनी महासमाधि के कुछ दिन पूर्व उन्होंने कहा, "बहुत-सी मुक्त आत्मायें हमारी शय्या के चारों ओर विद्यमान हैं। यह इस बात का निश्चित प्रमाण है कि अपने प्रियतम से मिलने की घड़ी आ गई है।"

अंत में उन पर दस्त का प्रकोप हो गया। वे इतने दुर्बल हो गये कि अपने आप चल भी नहीं सकते थे। जिस दिन उन्हें अपना अनित्य देह छोड़ना था वे पूजाघर में बिना किसी की सहायता के चले गये और अपने आप बिस्तर पर पड़ रहे, आँखें मूँद लिया जो फिर कभी न खुलीं। एक बजे रात्रि में उस प्रकाश ने जिसने कहरती मानवता के हृदयों को अपूर्व प्रेम से प्रकाशित एवं दीप्त किया था तथा धरती की मुखाकृति को

परिवर्तित कर दिया था, अपने आपको बुझने के लिये छोड़ दिया । यह बड़ा पागलखाना जिसे हम संसृति कहते हैं, उनसे प्रदीप्त छोटी-बड़ी चिनगारियों द्वारा प्रदीप्त होने को रह गया ।

जब कोमल ध्वनियाँ शान्त हो जाती हैं
तो स्मृति में संगीत का गुंजार होता है,
जब पुष्प का लावण्य समाप्त हो जाता है,
तो सुगंध अनुभूति में बस कर उन्हें संजीवित करता है—
गुलाब के सूखने पर, पंखुड़ियों को
प्रिया की शय्या हेतु एकत्र कर लेते हैं
उसी प्रकार तुम्हारे प्रयाण के बाद,
तुम्हारे विचारों पर
प्रीति स्वयं शयन करेगी ।
इस प्रकार तुम ऊँचे आकाश और फिर पृथ्वी पर
निवास करते हो
और तुम्हारी अनुगामी आत्मायें
हमें तुम्हारे पाने का मार्ग बताती हैं
जहाँ तुम्हारी अन्य आत्मायें
प्रमुदित होती रहती हैं
अतंद्रा, अतृप्तावस्था में ।

उपदेश—उनकी शिक्षा थी, "बिना माँगे कोई राय न दो

वरना इसके बुरे नतीजे हो सकते हैं। यदि तुम्हें किसी में कोई दोष दीखता है तो उससे उसकी मुक्ति के लिये प्रार्थना करो।" वह स्वयं किसी को भी अपनी बुरी आदत छोड़ने के लिये सीधे नहीं कहते थे। उस व्यक्ति की सभी बुरी आदतें और कमियाँ उनके सामीप्य से तत्क्षण दूर हो जाती थीं। इस पद्धति की विवेचना करते हुये वे कहा करते थे "यदि तुम अग्नि के समीप बैठते हो तो गरम महसूस करते हो और यदि बर्फ के पास बैठते हो तो ठंडक महसूस करते हो, तो फिर यदि तुम ऐसे किसी व्यक्ति के पास बैठो जो सदाचार और अनुशासन में सर्वथा पूर्ण हो तो क्या परिवर्तन नहीं हो जायेगा ?"

उन्होंने सदैव आवश्यकताओं के कम करने पर बल दिया। वे कहते थे, "यदि तुम्हारे पुराने सामानों से काम चल जाता हो तो नया मत खरीदो।" वे ईमानदारी से पैसा कमाने के विरुद्ध नहीं थे पर उन्हें दूसरों पर खर्च करने पर बल देते थे। मादक द्रव्यों के सेवन तथा परस्त्रीगमन की सख्त मनाही करते थे। वे अक्सर अपने अनुयायियों से कहा करते थे कि इस मामले में अपने मानस पर भी विश्वास नहीं करना चाहिये। उनके अनुसार स्त्री-दास (जोरू के गुलाम) और लोभी व्यक्ति कभी परमार्थ कार्य नहीं कर सकते।

दिखावे को वे अवगुण मानते थे। उनकी राय में कोरे सत्य को कहना सदैव अच्छा है। उनका दृढ़ विश्वास था कि

वास्तविक अनुशासन और सदाचार इसी में है कि वाणी वही कहे जो हृदय में हो। अभ्यासी का बाह्याभ्यन्तर एक समान होना चाहिये। वे कभी किसी के दोषों की चर्चा नहीं करते थे। यदि कभी ऐसे विषय की चर्चा आवश्यक हो जाती थी तो वे चुप हो जाते थे।

चमत्कारों के प्रदर्शन से उन्हें अत्यधिक घृणा होती थी। यदि किसी को अपनी साधना में सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती थी तो वे उस अवस्था को तुरन्त हटा देते थे। उसी प्रकार अहं को बढ़ने नहीं देते थे। उनका कहना था कि जिज्ञासुओं, साधकों को, जब तक वे अपने गन्तव्य तक न पहुँच जायें और अनुशासन पूर्णता को न प्राप्त कर लें, सिद्धियों से सदा दूर रहना चाहिये। साधक जब अपने गन्तव्य को पहुँच जाता है तो उसके सभी कार्य स्वतः ही चमत्कार हो जाते हैं। उनका विचार था कि किसी संत का सबसे बड़ा चमत्कार यह है कि वह पशु को एक पूर्ण मानव में परिवर्तित कर दे। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सिद्धियों पर उनका पूर्ण स्वत्व था पर उन शक्तियों का प्रयोग उन्होंने कभी नहीं किया। उनके ख्याल से आध्यात्मिक पूर्णता तीन बातों पर आधृत है (१) गुरु के प्रति प्रेम (२) गुरु के साथ सत्संग और (३) गुरु के प्रति आज्ञाकारिता।

अच्छे और सुपात्र शिष्यों को कोई सैद्धान्तिक शिक्षा नहीं दी जाती थी बल्कि उनसे केवल सत्संग में शरीक होने के लिए

कहा जाता था। शिष्यों की क्षमता के आधार पर प्रशिक्षण होता था। उनमें से कुछ को सुरत शब्द-योग का अनुसरण करने के लिये कहा जाता था, अन्यों को हृदय पर ध्यान करने के लिये कहा जाता था, कुछ को मंत्र जप बताया जाता था और शेष लोगों को केवल कुछ कर्म करने को कहा जाता था। जो भी हो, विशेष बल इस बात पर दिया जाता था कि गुरु की कृपा प्राप्त की जाय, सत्संग में भाग लिया जाय और हृदय पर ध्यान किया जाय। कभी-कभी हृदय पर 'ॐ' का जप भी बताया जाता था। उनमें से किन्हीं या सभी के अभ्यास से स्पन्दन पैदा हो जाता और 'शब्द' क्रियाशील हो जाता था। जब यह स्थिति पैदा हो जाती तो अभ्यासियों से लाला जी उन्हें बराबर सुनते रहने को कहते थे।

किसी भी जाति या धर्म के लोग, किसी भी धर्म के अनुयायी जिनमें वास्तविकता की प्यास थी—उनसे दीक्षा प्राप्त कर सकते थे। वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की दीक्षा के लिये भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ लगाते थे। कभी-कभी वे उनसे किसी भी व्यक्ति या वस्तु पर ध्यान करने को कहते थे जिसे वे लोग अत्यधिक पसन्द करते। वे सभी धर्मों के धर्म-ग्रन्थों में विश्वास करते थे और सभी संतों का आदर करते थे। उनका सिद्धान्त था कि व्यक्ति को उसी धर्म का पालन करना चाहिये जिसमें वह उत्पन्न हुआ है। (स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः—**गीता**)

वे मूर्तिपूजा के विरोधी थे। यद्यपि उन्होंने अपने अनुयायियों को अपना छाया चित्र (फोटो) रखने की अनुमति दी थी पर उसे पूजने की अनुमति कभी नहीं देते थे। आत्मप्रशंसा से उन्हें इतनी नफरत थी कि वे लोगों द्वारा आदर करने के लिए अपना पैर छूने नहीं देते परन्तु हिन्दुओं के लिये इसकी छूट थी जिसे वे मात्र रीति के रूप में करते थे।

बहुत अधिक जप-तप उन्हें पसन्द न था। वे मध्यम मार्ग को अच्छा समझते थे और हृदय पर ध्यान करना सच्ची साधना मानते थे। वे प्रार्थना को विशेष महत्व देते थे परन्तु प्रार्थना सांसारिक लाभ के लिए नहीं होनी चाहिये। वे स्वयं बराबर इस संसार की आत्मा के लिए प्रार्थना करते थे।

उनकी राय में हर जिज्ञासु के लिये गुरु आवश्यक है। परन्तु गुरु का चुनाव करते समय हर सावधानी बरतनी चाहिये। गुरु प्राप्त हो जाने पर जिज्ञासु का केवल यह कर्तव्य हो जाता है कि अपने को गुरु के प्रति समर्पित कर दे, ठीक वैसे ही जैसे किसी विन्यासकारी के हाथों में वह शव मात्र हो।

हृदय की विभिन्न दुरूहताओं को दूर करने के लिये लाला जी सत्संगियों से अपने शत्रुओं एवं भयावहों को अपना मित्र बना लेने को कहते थे। उनसे यह भी कहते कि जैसा व्यवहार वे स्वयं अपने प्रति नहीं चाहते वैसा दूसरों के साथ न करें। प्रेम को सबसे बड़ी तपस्या मानते थे।

वे अक्सर अपने श्रोताओं से ईश्वर को, जिसने उन्हें विविध

सुख-सुविधायें प्रदान की हैं, धन्यवाद देने को कहते थे। साथ ही साथ, उन सब का सदुपयोग करने की सलाह देते थे ताकि वे स्थायी रूप ले सकें। आइजक वाल्टन के इस कथन से कि "ईश्वर के पास दो निवास है : एक तो स्वर्ग में और दूसरा विनीत, कृतज्ञ हृदयों में" आसानी से सहमत हुआ जा सकता है। लाला जी सदाचार के बारे में बिशेष चुस्त थे। उनका बड़े स्पष्ट शब्दों में कहना था कि आत्म-साक्षात्कार सदाचार के प्रमाणित नैतिक नियमों के पालन के बिना सम्भव नहीं। वे अनैतिक व्यक्तियों के संसर्ग और उनके साथ सत्संग करने को भी मना करते थे। उनका निश्चित निर्देश होता कि संग उन्हीं व्यक्तियों का करना चाहिये जिनका हृदय ईश्वर-प्रेम से लबालब भरा हो तथा जो दूसरों को उससे प्रभावित कर सकें।

उनके विचार से सन्त के लिये तीन चीजें आवश्यक थीं : (१) स्थायी शारीरिक कष्ट, (२) आर्थिक संकट और (३) निन्दक।

मन को संतुलित करना ही वास्तविक साधना है।

मिताहारी बनो और ईमानदारी से जीविकोपार्जन करो।

ईमानदारी से कमाये हुए भोजन के बिना तो आध्यात्मिक अनुभव बहुधा गलत सिद्ध होते हैं।

एक बार उन्होंने लिखा— "झंझटों में होना अच्छा ही होता है। घर विनम्रता और सहनशीलता आदि के लिए दीक्षा केन्द्र है। यह सर्वोत्तम प्रकार की तपस्या और यज्ञ है।" एक दूसरे

Imp.

स्थान पर वे लिखते हैं—"जहाँ तक विपत्ति और परेशानियों का प्रश्न है मेरे अपने भी थे जो संभवतः दूसरों को बहुत कष्टप्रद प्रतीत हों। अक्सर मेरे पास भोजन के लिए कुछ भी नहीं होता था। मुझे कई बच्चों और आश्रितों को पोषण देना था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी मुझे दूसरों की सहायता करनी पड़ती थी जो मैं टाल नहीं सकता था। यह सारी जिम्मेदारी मेरे ही ऊपर थी और मुझे इन सबका प्रबन्ध करना था और इन आवश्यकताओं की पूर्ति करनी थी। मैं यह भी बता दूँ कि कभी-कभी मेरे पास केवल एक ही रजाई होती और वह भी बुरी तरह फटे गद्दों की, जिसे सारा परिवार ओढ़ता था। परन्तु इसे मैंने केवल दुर्भाग्य का खेल समझा जो कि समय के साथ समाप्त हो गया। मैंने यह महसूस किया कि मेरे लिए इन सबका उस असलियत की अपेक्षा जो मेरे अस्तित्व में प्रबल रूप से भरा था, कुछ भी महत्व नहीं है। इसलिए मैं उन पर सदैव मुस्कराता रहा और उन्हें ही मोक्ष का मार्ग माना।"

कुछ सिद्धान्त—वह जो ईश्वर को ढूँढ़ता है, आत्मा है और जिसे ढूँढ़ा जाता है वह परमात्मा है।

मनुष्य की आत्मा उसकी विवेक शक्ति के अनुपात में स्वच्छ होगी।

हम प्रेमी जन, ज्ञान हैं और ईश्वर पूर्ण ज्ञान है—अपितु ज्ञान स्वरूप है।

बिना पूर्ण मनुष्य हुए ईश्वर साक्षात्कार असम्भव है। बेली ने इसे इस प्रकार कहा है :—

"हर व्यक्ति अपने आप को ईश्वर की एक कृति समझे। अपने मानस को ईश्वर का एक विचार और अपना जीवन ईश्वर का एक श्वास।"

हाल कहते हैं—"एक बुरा आदमी ईश्वर के लिए मिट्टी है और शैतान के लिए मोम, जब कि एक अच्छा आदमी ईश्वर के लिए मोम है और शैतान के लिए मिट्टी।"

पहले अपने मानस को साधना के अभ्यास से स्वच्छ करो, तब पुस्तकों का अध्ययन करो अन्यथा वास्तविकता की पकड़ न हो सकेगी।

स्वामी बननें का प्रयास न करो, सेवक के रूप में सेवा करो।

कभी किसी को वचन न दो कि वह ईश्वर साक्षात्कार एक निश्चित समय में कर लेगा।

तुम्हें केवल इतना ही संदेह निवारण करना है कि ईश्वर और आत्मा है कि नहीं। यदि तुमने इस संदेह से अपने को मुक्त कर लिया है तो कोई गुरु करने की आवश्यकता नहीं है।

ईश्वर और आत्मा की तलाश स्वाभाविक है और यह एक बुद्धि-दुर्बलता है। यह मनः सृष्टि दूसरे मनः सृष्टि द्वारा—जो गुरु है—ठीक हो सकती है।

नास्तिक वह व्यक्ति नहीं जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं है।

जो भौतिक, मानसिक, प्रज्ञाजनित और आध्यात्मिक अस्तित्वों को हानि पहुँचाता है—नास्तिक है।

ईश्वर ने अपने को तुम्हारे हृदयों में छिपा रखा है और तुम्हें प्रगट कर दिया है। अपने को छिपाओ और ईश्वर को प्रगट करो—यही वास्तविक साधना है।

एक महान विचारक के अनुसार—रीति-रिवाजों का करना और कर्मकाण्डों से चिपके रहना कोई धर्म नहीं। मन की उदारता, सुन्दर स्वभाव, सहानुभूति, सौजन्यता, विचारों की एकाग्रता, अपने को जानना, और मानव मात्र के लिये प्रेम और समभाव, धर्म के अंग हैं। सत्य तो यह है कि धर्म को अपने में किसी व्यक्ति को समाहित नहीं करना चाहिये बल्कि उसे धर्म द्वारा समाहित होना चाहिये क्योंकि किसी व्यक्ति विशेष का धर्म उसकी नैतिकताओं के बाद नहीं रह जाता। वास्तव में, ईश्वर की इच्छा पूरी करना ही धर्म है।

ईश्वर के लिये सच्ची तड़प सहस्रों में एक में होती है। ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम क्या है ? यह वह अवस्था है जब कि प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम की त्रिपुटी स्वयं समाप्त हो जाती है।

विपत्तियाँ ईश्वर का वरदान स्वरूप हैं। उनमें अनेक रहस्य होते हैं और कष्ट झेलने से बहुत से आन्तरिक अनुभव हो सकते हैं। जर्मी टेलर का भी विचार है कि धर्म के बहुत से रहस्य तब तक नहीं दीख पड़ते जब तक उनकी अनुभूति नहीं

होती, और अनुभूति तब तक नहीं होती जब तक भारी विपत्ति नहीं पड़ती। मैले (Mallet) के विचार से विपत्ति गुण की उपकारी मिट्टी है, जहाँ गुण, धैर्य, सम्मान, सुमधुर विनम्रता और शांतिमय साहस, जड़ पकड़ते हैं और प्रचुरता से पल्लवित-पुष्पित होते हैं।

विशेष व्यक्तित्व—

तुम मानव और दैव
दोनों प्रतीत होते हो,
उच्चतम, पवित्रतम, तुम
हो मनुजों के स्वामी,
हमारी इच्छायें हमारी हैं।
पता नहीं क्यों ?
हमारी इच्छायें हमारी हैं
इसलिये कि वे तेरी हो जायें।

ऊँचाइयाँ,
जिन्हें बड़ों ने प्राप्त कीं,
उपलब्धि न थीं
सहसा उड़ान की।
वे प्रतिफलन थीं
उस कठोर श्रम की,
जो अहर्निश करते रहे
जब सभी संगी सोते रहे।

—लांगफेलो

महान व्यक्तियों के गुणों के बारे में W. E. Channing का कहना है कि "महान व्यक्ति वह है जो सत्य का चुनाव अपराजेय संकल्प से करता है, जो अन्तर और बाहर से तीव्रतम प्रलोभनों को रोकता है, जो महत्तम भार प्रसन्नतापूर्वक ढोता है, जो तूफानी दौरों में भी शांत रहता है, कष्टों और धमकियों से बिल्कुल निर्भीक रहता है और जिसकी सत्य, गुण और ईश्वर पर निर्भरता अडिग है।" बिस्मार्क कहते हैं "एक सच्चा महान व्यक्ति तीन बातों से जाना जाता है—दृष्टि में उदारता, प्रक्रिया में मानवीयता और सफलता में संतुलन।"

लाला जी में एक सच्चे महान और पूर्ण मनुष्य के सभी गुण थे– क्योंकि उनका स्थान ईश्वर के तुरत बाद है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, "मनुष्य तभी तक मनुष्य है जब तक वह प्रकृति के ऊपर उठने को संघर्ष-रत है और यह प्रकृति आन्तरिक और बाह्य दोनों है। बाह्य प्रकृति को जीतना अच्छा और महान है परन्तु और भी शानदार है आन्तरिक प्रकृति को जीतना। यह अच्छी और बड़ी बात है कि उन नियमों को जाना जाय जो तारों और ग्रहों को नियंत्रित करते हैं परन्तु उन नियमों को जो मानव मात्र के आवेगों, भावनाओं और इच्छाओं को नियंत्रित करते हैं जानना अनन्त गुना सुन्दर है।"

"मनुष्य सभी पशुओं से श्रेष्ठ है, सभी देवों से श्रेष्ठ है, मनुष्य से बढ़कर कोई नहीं है। देवताओं को भी पुनः नीचे

आना होगा और मानव शरीर द्वारा मोक्ष प्राप्त करना होगा ! मनुष्य ही पूर्णता प्राप्त करता है, देवता नहीं ।"

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि लाला जी ने सात मास की अल्पावधि में ही पूर्णता प्राप्त कर ली ? जब वे विद्यार्थी ही थे तभी उनका संपूर्ण तंत्र एक दिव्य आन्तरिक प्रकाश में परिवर्तित हो गया था और उनकी चेतना उठ कर सभी ज्ञात स्तरों एवं स्थलों को पार कर अवस्थाहीन अवस्था को प्राप्त कर चुकी थी ।

इस विशिष्ट व्यक्तित्व ने, जो परम सत्य अथवा प्रकृति का विलक्षण प्रतिरूप था, उपनिषदों की विस्मृत प्राण की प्राणाहुति कला को मानवता को पुनः प्रदान किया और आध्यात्मिक प्रशिक्षण की एक नवीन पद्धति निकाली जिसने साधक को उसके लगभग सभी दायित्वों से मुक्त कर दिया । यद्यपि उनका दर्शन और शैली, दोनों, वेदों पर आधृत है फिर भी पूर्णतया नवीन है और डॉ० के० सी० वरदाचारी ने इसे ठीक ही एक नवीन दर्शन अथवा सातवाँ दर्शन कहा है ।

केन्द्र अथवा ईश्वर के स्थान को नियत करना, परा-अन्तरिक्ष क्षेत्र के बाद केन्द्रीय क्षेत्र की खोज, और अन्तिम अवस्था जिसे उन्होंने 'तम' की संज्ञा दी थी, ज्ञान के लिये बन्द पुस्तक के समान थे । इन अन्वेषणों ने प्रज्ञावान एवं आध्यात्मिक, दोनों के लिये, समान रूप से वैचारिक भोजन प्रदान किया । तिरुपति

(दक्षिण भारत) में एक शोध संस्थान प्रारम्भ किया गया है जिससे इस प्रणाली की उपादेयता की जाँच की जा सके और कार्य को आगे बढ़ाया जा सके। सहज मार्ग की इस प्रणाली को आगरा विश्वविद्यालय ने शोध का विषय बनाया है और लखीमपुर खीरी जनपद के डा० प्रेम सागर को इस पर डॉक्टरेट की पदवी मिल चुकी है।

ईश्वर की इच्छा के अनुसार रहने की लाला जी की क्षमता का एक उदाहरण मैं दे रहा हूँ। अपने अन्तिम दिनों में वे जिगर के फोड़े से त्रस्त थे और प्राकृतिक चिकित्सा कर रहे थे। उनके एक शिष्य, पंडित रामेश्वर प्रसाद मिश्र, उनके जिगर पर मिट्टी की पर्त की सेंक दे रहे थे। लाला जी को पीड़ा के कारण अत्यन्त कष्ट में देखकर वे रोने लगे। उनको रोते देख कर गुरुदेव ने कहा, "यदि मैं अपना स्वयं प्रयत्न करूँ तो यह पल में ही दूर हो जाय, परन्तु मैं इसे नहीं स्पर्श कर रहा हूँ क्योंकि यह सब उसकी (ईश्वर की) इच्छा है और हम सभी को उसी के अनुसार रहना चाहिये।"

वे संतुलन, सहन-शीलता और भक्ति की प्रतिमूर्ति थे। उनमें लेशमात्र भी अहं नहीं था। उनके साथ ही प्राणाहुति द्वारा योग दीक्षा के युग का बिहान हुआ जिसके वे ही मालिक थे। वे एक ही दृष्टि में एक मनुष्य को पूर्ण बना सकते थे। यह वही थे जिन्होंने यह सम्भव कर दिया कि मनुष्य एक ही जीवन—अपितु उसके एक अंश में ही—सामान्य गृहस्थी के जीवन में ही पूर्णता

प्राप्त कर ले। उन्होंने आध्यात्मिक प्रशिक्षण की पद्धति को सरल बना दिया और समय की माँग के अनुसार सुव्यवस्थित कर दिया।

हे अमर देव
जिसने मानव विचारों की गहराइयों में
अपना सिंहासन आरूढ़ किया है,
मैं तेरी शक्ति और तुम्हें पूजता हूँ
उन सबसे जो मानव हो सकता है,
उन सबसे जो वह नहीं है,
उन सबसे जो वह कुछ रहा है
और आगे भी जो कुछ होगा। —शेली

—रामचन्द्र

संपादकीय उपलेख

आदि गुरु ने अपने महाप्रयाण के समय कोई अपना प्रतिनिधि नहीं छोड़ा और उनके शिष्य उनके अपूर्ण कार्य को गति देने के लिये संयुक्त प्रयास करने के बजाय अलग-अलग पड़ गये, और उनकी पद्धति जो एक महान दार्शनिक प्रयास के अतिरिक्त विज्ञान और कला दोनों थी, गतिहीन हो गई।

जब वे गम्भीर रूप से बीमार पड़े तो उनके कुछ शिष्यों ने जिनमें श्री जगदम्बिका प्रसाद भी थे, उनके प्रतिनिधि के

बारे में पूछा। उन्होंने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, "जब दीप जल उठेगा, पतिंगे उसकी ओर अपने आप उड़ने लगेंगे।" एक दूसरे अवसर पर शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश) के श्री मदनमोहन लाल ने वही प्रश्न किया। लाला जी मुस्कराये और बोले "रामचन्द्र चिराग-ए-खानदान होगा।" एक अन्य अवसर पर पंडित गंगा-सेवक ने उनसे वही प्रश्न किया और लाला जी ने उन्हें उत्तर दिया, "मैं अपना प्रतिनिधि छोड़ रहा हूँ और वह स्वतः प्रगट होगा।"

श्री रामचन्द्र जी महाराज (बाबू जी)—श्री रामचन्द्र मिशन के संस्थापक अध्यक्ष, आदि गुरु के योग्यतम शिष्य—अपने गुरुदेव द्वारा लागू किये गये अनुशासन का कठोरता से पालन करते थे और अपनी अनुभूतियों और स्थितियों को दैनन्दिनी में लिखते थे और उसे गुरुदेव को भेजा करते थे। एक रात्रि बाबू जी ने अपने गुरुदेव को स्वप्न में देखा। उन्होंने देखा कि गुरुदेव ने अपने आप को सुयोग्य शिष्य में विलीन कर दिया और कहा, "मन तू शुदम, तू मन शुदी। मन तन शुदम, तू जाँशुदी। ता कस न गोयद बादअजीं मन दीगरम तू दीगरी—मैं तू हो गया तू मैं हो गया, मैं शरीर और तू आत्मा हो गया ताकि इसके बाद कोई यह न कह सके कि मैं और तू भिन्न है।" बाबू जी ने इसे अपनी आत्म-कथा में लिखा है।

लाला जी का सबसे बड़ा चमत्कार बाबू जी के महान

व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करना था जो आध्यात्मिक विकास के इतिहास में अद्वितीय है।। इस क्षेत्र में उनके अन्वेषण और शोध अद्भुत और महान माने जायेंगे और सदियों तक नवीन शोध के विषय बने रहेंगे। केवल भावी पीढ़ी ही "सहज-मार्ग" और श्री रामचन्द्र मिशन—जिसका नामकरण बाबू जी ने अपने प्यारे गुरुदेव के नाम पर किया—द्वारा मानवता को दिये वरदानों का निर्धारण एवं मूल्यांकन कर सकेगी।

•

अध्याय २

वेद

संस्कृत के 'विद्' धातु—जिससे 'वेद' शब्द की उत्पत्ति हुई है—का अर्थ मात्र ज्ञान, जानना है। ज्ञान का अर्थ जानना होता है। यह जानना शब्द एक व्यापक अर्थ, रूप और लक्षणार्थ व्यक्त करता है। इसके अगणित रूप, अगणित अवस्थायें, व अगणित दशायें होती हैं। किन्तु, केवल तीन रूप ही हमें अपनी दृष्टि में रखने चाहिये—तम, रज व सत्। तम आधार है, रज मध्यावस्था है और सत् शीर्ष है। आधार व शीर्ष सबसे दूर के किनारे हैं। मध्य अवस्था ही ऐसी है जिसके बारे में कुछ सोचा व विचारा जा सकता है। अतः जिसे सामान्यतया ज्ञान कहा जाता है वह केवल मध्य अवस्था है और केवल उसी के द्वारा तीनों अवस्थाओं को जाना व समझा जा सकता है।

वेद को त्रिगुणात्मक विषय कहा गया है। किन्तु यह राजसिक पहलू पर विशेष बल देता है अर्थात् मध्य की विवेक शक्ति पर। तम, रज और सत्—तीन गुण हैं। तम को आधार, मूल और नींव कहते हैं। संस्कृत में इस शब्द के कई अर्थ होते हैं; परन्तु सामान्यतया इसका अर्थ अज्ञान, तन्द्रा, सुस्ती, ठोसता, भ्रम आदि लगाया जाता है। ये सभी मूल या आधार के अर्थ का द्योतन करते हैं। रज को मध्य अथवा

केन्द्रीय अवस्था कहते हैं। इसकी प्रकृति संघर्ष, चंचल, सोच-विचार आदि की है। यह सदैव मध्य स्तर का द्योतक है। सत् का अर्थ प्रसन्नता, सहमति, पसन्दीदगी, ऊँचाई, सूक्ष्मता, पवित्रता व महानता है। यह शीर्ष है। इसको केवल इसी अर्थ में सदैव स्वीकार किया जाना चाहिये।

इन तीन गुणों के सम्मिश्रण के कारण सृष्टि को त्रिलोकी और तीन वर्गों वाली मानते हैं। वह सिद्धान्त जो सबको घेरे हुए इन तीनों में निहित है तथा वास्तविक उपस्तर बना हुआ है—वेद कहलाता है। इस दृष्टि से वेद तीन वर्गों वाला, तीन गुणों वाला है। कोई देश, काल, द्रव्य अथवा सृष्टि इसके बाहर नहीं है। देश, काल और द्रव्य सभी इन तीन गुणों से बने हैं। इन सभी में तीनों अवस्थायें होती हैं—प्रारम्भ, मध्य और अन्त। हर वृक्ष में जड़, तना व शाखायें होती हैं। तना मध्य भाग है। सामान्यतया हमारी दृष्टि मध्य भाग पर ही पड़ती है और हमारे जीवन के सभी संघर्षों की अभिव्यक्ति इसी मध्य अवस्था में ही होती है। हर अस्तित्व में इस त्रिपुटी का सम्मिश्रण है किन्तु वह जो इसके भीतर है—मध्य में ही रहता है। इस प्रकार यह मध्य भाग ही मनोयोग और विचार का केन्द्र हो जाता है। सभी क्रियाओं का प्रारम्भ व अन्त सामान्यतया दृष्टि से ओझल हो जाता है। कार्य क्षेत्र एवं कार्य काल ही सदा हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

हर जीव में सिर, धड़ व पैर होते हैं। व्यक्ति का धड़ मध्य

में होता है और आकर्षण का माध्यम बनता है। परन्तु ये सब उदाहरण किस प्रकार वेद से सम्बन्धित हैं? इन्हीं कड़ियों की संयुक्तावस्था, उनके ज्ञान और उस ज्ञान का परिणाम वेद कहलाता है। उस तत्त्व का सत्त्व जो सबको घेरे हुए है ज्ञान है। परन्तु ज्ञान को अनुभूति या अनुभव की अवस्था नहीं मान लेना चाहिये अन्यथा यह एक भूल होगी।

ज्ञान, तत्त्व और असलियत है। यद्यपि देखने-सुनने व मनन करने की शक्ति, और समस्त जीव, जन्तु, पदार्थ, अणु आदि में भी वही ज्ञान है और वही सबका आधार है किन्तु इसे एक सीमित अर्थ में नहीं लेना चाहिये अन्यथा वेद या ज्ञान का महत्व समाप्त हो जाता है। वेद एक पुस्तक विशेष देश, धर्म या राष्ट्रीयता तक सीमित नहीं है वरन् यह तीनों लोकों का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत समस्त सृष्टि, निम्नतर एवं उच्च-तर आकाश-पाताल सभी आ जाते हैं। वेद चाहे ऋषि या सन्त, जिस किसी के द्वारा समझा या ग्रहण किया जाय यह समस्त ज्ञान (ईश्वरीय कृपा) का स्रोत है। यह उस धातु का सूत है जिसमें सभी लोक-लोकान्तर, वसु, ध्रुव, आदित्य और रुद्र आदि दाने के रूप में गुँथे होते हैं।

उनके वास्तविक महत्त्व को समझने के लिये आइये थोड़ी देर के लिये हम वेद और ज्ञान शब्दों को भूल जाँय और उसके स्थान पर एक ऐसी अमूर्त सत्ता या शक्ति को लें जो सर्वव्यापक

वास्तविकता और सर्वपरिवेष्टी तत्त्व है; जो सृष्टि के अभिज्ञान को बनाये रखता हो और जिसे प्रज्ञा, प्रथम मन, महत् तत्त्व या अपरा प्रकृति कहते हैं। इस मन का एक भाग ऊर्ध्वमुखी कर दिया जाता है जो सर्वव्यापी एवं सर्वपरिवेष्टी सत्त्व है और जो समस्त व्यष्टि रूपों का निर्धारण करता है। उदाहरणार्थ किसी अत्यन्त क्षुद्र कीट के आरम्भिक रूप को लीजिये जिसमें भेदकारक अङ्गों का विकास न हुआ हो। उसके बाद वह शक्ति जो कण-कण में व्यवस्थित बल प्रवेश करती है तथा जो विभिन्न अङ्गों जैसे मुख आदि को उत्पन्न करती है, या करने की क्षमता रखती है, जिससे एक की दूसरे से भिन्नता स्थापित होती है, ज्ञान अथवा प्रथम-मस्तिष्क कहलाता है जो सर्वव्यापक है। कोई भी सृष्टि या जाति या धर्म या सम्प्रदाय इससे मुक्त नहीं है। भारतीयों ने इस शक्ति को ज्ञान अथवा वेद कहा है। यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि दूसरे देश के लोग कदाचित् इसे कोई और नाम देते हैं। हिन्दू लोग भी यदि वेद और ज्ञान के पारम्परिक अर्थ को त्यागकर और आगे जाने का प्रयास करें तो बहुत सम्भव है कि वे मौलिक वास्तविकता तक पहुँच जायें। अन्यथा वे शब्दों के अर्थ पर वाद-विवाद करने के लिए स्वतन्त्र हैं और अपने विवादों को जीवन पर्यन्त झगड़े की जड़ बनाये रख सकते हैं। चूँकि इस ज्ञान की व्याख्या ऋषियों द्वारा हुई है अतः ऋषि शब्द के वास्तविक अर्थ पर भी विचार करना आवश्यक है।

ऋषि का अर्थ है : (१) मंत्रद्रष्टा, (२) ऐसा व्यक्ति जिसका प्रकृति पर पूर्ण अधिकार हो, (३) गतिशील अस्तित्त्व चाहे वह अपनी ही धुरी पर केन्द्रीय रूप में चक्कर कर रहा हो या किसी एक केन्द्र पर कायम रह कर उसी को धुरी के रूप में प्रयोग करता हो। कोई भी स्थान इनसे मुक्त नहीं है। इनमें से कुछ वसु हैं जिनमें सृष्टि स्थित है। कुछ आदित्य हैं जो अपना प्रकाश दूसरों को देते हैं। कुछ रुद्र होते हैं जो सांसारिक मामलों में लोगों को रुलाते और इस प्रकार उन्हें सही मार्ग पर लाते हैं।

(१) **मन्त्रद्रष्टा**—अर्थात् मंत्रों को देखने वाला। मंत्र का अर्थ है : प्रकृति का रहस्य, एक उपाय, एक योजना या कार्य-क्रम या सलाह मशविरा। जो भी इसे आत्मसात करने को जागरूक है, ऋषि है। ऐसे व्यक्ति अगणित हैं किन्तु सात विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : भारद्वाज, अगस्त्य, जमदग्नि, अत्रि, गौतम, विश्वामित्र और बृहस्पति। ये प्रकृति के ७ सिद्धान्त हैं जो आकाश मण्डल में वेद या ज्ञान के रूप में पाये जाते हैं। उनके अतिरिक्त वे सभी व्यक्ति हैं जो इन ऋषियों के विशेष गुणों से सम्बन्धित हैं और उनके अधीन हैं।

(२) **यन्त्रद्रष्टा**—कुछ निश्चित नियमानुसार कार्य करने वाले यन्त्र (औजार) को देखने वाला। संस्कृत के नियन्तृ शब्द का अर्थ है वह जो काल, देश व द्रव्य को नियन्त्रित रखता है

तथा उन्हें व्यवस्थित करता है। ऐसे ऋषि को आदित्य कहते हैं जो उस देवता का नाम है जो सूर्य की भाँति चमकता है।

(३) **तन्त्रद्रष्टा** —वह है जो प्रकृति की संचालक धारा या जीवनशक्ति को देखता है और जो उस धारा को फैलाता है। ऐसे ऋषि को रुद्र कहते हैं। वह व्यावहारिक अनुभव द्वारा मार्ग दर्शन करता है।

(४) इनके अतिरिक्त वसु व ध्रुव होते हैं। मनुष्यों में वे जो इन रहस्यों को जानते हैं और ज्ञान, ध्यान तथा उच्चतर ज्ञान या विज्ञान के क्रिया कलापों में भाग लेते हैं, ऋषि कहलाते हैं। ऐसे व्यक्ति हर देश और हर जाति में पाये जाते हैं हालाँकि उनके नाम भिन्न-भिन्न होते हैं। यथा--अब्दाल, कुतुब, अवतार, वली, नबी, सवाबित, सैय्यार, साधु, सन्त आदि।

भारत के इन ऋषियों ने वेद को एक ऐसा विशेष नाम दे दिया है जिसके सुनने, समझने व स्वीकार करने से वेद का सत्त्व सरलतापूर्वक अनुभव में आ जाता है। वह नाम श्रुति है। श्रुति वह जो सुना गया है, सुना जा रहा है और जो सुना जायेगा। इसे श्रुत भी कहते हैं। इसका अर्थ है वह जो सुना गया और सुनने में आया हुआ। श्रुति का एक विशेष अर्थ पवित्र विधान, पवित्र सिद्धान्त और पवित्र रहस्य है जो पुनः वेद ही है। आजकल इसे सुरति भी कहते हैं। ऋषियों ने इसे

पहले भी सुना और अपने अन्दर भी सुना। और हम भी इन ऋषियों द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार उसे स्वयं में सुन सकते हैं और सुनते हैं। श्रुति वह है जो केवल सुना जाता है--मौलिक स्वतन्त्र व अमिश्रित स्वर। स्मृति याद किये हुए नियम या धर्मशास्त्र को कहते हैं जो मिश्रित स्वर हैं। श्रुति एक स्वतन्त्र मौलिक स्वर होने के नाते अपने आप में प्रमाण है और स्मृति स्मरित वस्तु होने के नाते अन्य प्रमाण पर निर्भर होती है।

श्रुति केवल ध्वनि को कहते हैं जिसे सुना तो जा सकता है किन्तु जो शब्द, अक्षर, ओष्ठ अथवा उच्चारण के बन्धन से मुक्त है। स्मृति को एक सीमा तक उस ध्वनि और मौलिक आवाज की अनुकृति (नकल) कह सकते हैं जो जिह्वा, ओष्ठ, दन्त और उच्चारण आदि के बन्धन में होता है।

श्रुति स्वतन्त्र है, स्मृति परतंत्र है। श्रुति का कोई भी व्यक्ति खण्डन नहीं कर सकता है जबकि स्मृति का खण्डन हो सकता है। चूँकि श्रुति अपना स्वयं प्रमाण है अतः इसे किसी भी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। स्मृति में स्वयं-प्रमाण की न्यूनता होती है अतः इसे प्रमाणपत्र अर्थात् दूसरे के हवाले की आवश्यकता होती है। श्रुति कभी परिवर्तित नहीं होती। स्मृति सदैव परिवर्तित होती रहती है। श्रुति ध्वन्यात्मक होने के कारण ध्वनिमात्र है जबकि स्मृति मौलिक ध्वनि की नकल होने के कारण वर्ण, शब्द, भाषा और उच्चारण पर

आश्रित है। अतः यह वर्णनात्मक है। वर्ण अक्षर को कहते हैं। श्रुति मौलिक या आरम्भिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है जिसका अर्थ ईश्वरीय आदेश होता है। श्रुति में निषेध (फना या मिटने) का प्रभाव होता है जिसका स्फुटन महाप्रलय के समय होता है। यह शब्द समस्त अस्तित्वों में व्याप्त होता है और उनका धारण, पोषण करता है। श्रुति शब्द का यह अर्थ-पूर्ण अभिप्राय है जो केवल ध्वन्यात्मक है। यह एक रहस्य है जिसे केवल जागरूक ही जान सकते हैं। दृश्य जगत व परि-णामी जगत के लोग इसे नहीं समझ सकते परन्तु ध्वन्यात्मक शब्द को अपने विचारों के सम्बन्ध से उसके अर्थ और व्यक्तरूप जो पैदा कर सकें, कर सकते हैं यथा 'ईश्वर महान है' 'लहसुन' 'प्याज,' 'अदरक,' 'चुप रह,' 'मूर्ख,' आदि।

श्रुति-ध्वनि का एक और अर्थ है जिसे उद्गीत कहते हैं। 'उद्' का अर्थ "उधर को", पारलौकिक, उच्चतर मूलतत्व गुणों की संहति, और 'गीत' का अर्थ 'गान' से है। इस प्रकार इसका अर्थ मूलतत्त्व और व्यक्तीकरण का गान, सत्ता और होने (भव) का गान, 'स्वर्ग और पृथ्वी का गान' या मानव स्वर है।

ॐ उद्गीत की अनुकृति है और तीन अक्षरों का सम्मिश्रण जिसका उच्चारण ओष्ठ, जिह्वा व स्वर की सहायता से होता है। जब ॐ की मौलिक या स्वाभाविक ध्वनि सुन पड़ती है तो यह वास्तविक वेद होता है। यह ॐ एक विशेष विचार (शक्ति) की सहायता से ध्वन्यात्मक रूप से अक्षररूप में परि-

वर्तित होता है। यह विशेष विचार, जन्म, अस्तित्व और वापसी या मृत्यु है। परन्तु केवल जिह्वा से ॐ का उच्चारण करना अनुकरण या मूर्तिपूजा के समान है जबकि अपने को वास्तविकता से जोड़ लेना ज्ञान है। पर इस प्रकार की मूर्ति-पूजा की निन्दा नहीं होनी चाहिये क्योंकि यह मौलिक वास्तविकता तक पहुँचने का एक साधन मात्र है।

(१) अ—सृष्टि; उ—स्थिति, प्रतिपालन; म्—प्रलय।

(२) अ—ब्रह्म, सृष्टिकर्ता; उ—विष्णु, संरक्षक, धारक; म्—शिव, संहारक।

ओम् में ईश्वर के तीनों गुण विद्यमान हैं :

अ—गति है।

उ—गति के स्थायित्व का निर्वाह है।

म्—गति का अन्त है।

ओम् में गति की तीनों विशेषतायें होती हैं। ओम् श्रुति है, उद्‌गीत है। यदि इसका क्रमिक रूप से श्रवण किया जाय तो वास्तविकता उपलब्ध हो जायेगी और जीवन का उद्देश्य प्राप्त हो जायेगा। निम्नांकित सभी तीनों अवस्थायें ओम् के सुमिरन, ध्यान तथा उसमें लीन होने से सरलता से प्राप्त की जा सकती हैं।

(१) सत्—अस्तित्त्व : जीवन का सौन्दर्य और आकर्षण।

(२) चित्—ज्ञान : जीवन को सही रूप में जानना व समझना।

(३) आनन्द—जीवन का आनन्द या सुख।

ओम् तो ध्वनि ही ध्वनि है। वह एक स्पन्दन है, स्वर है, और स्वर का सम्बन्ध गायन और श्रवण से ही है। यदि इसे उपयुक्त और व्यवस्थित ढंग से गाया व सुना जाय तो दोनों गायक और श्रोता सच्चिदानन्द की अनुभूति के अधिकारी होंगे और अल्पकाल में ही वे वास्तविकता को देखने में सक्षम हो जायेंगे। हर व्यक्ति सच्चिदानन्द है। कोई भी सत्–अस्तित्व, चित्—ज्ञान, व आनन्द से हीन नहीं है। अज्ञानवश मनुष्य अपने को अपने वास्तविक रूप से कुछ भिन्न मान बैठा है। यहाँ सत्सङ्ग की सहायता से उसके अज्ञान को दूर करने का प्रयास किया जाता है जिससे कि वह सत्-चित्-आनन्द की अनुभूति कर सके।

ओम् केवल ध्वनि, उद्गीत और श्रुति है। इसका यदि 'योअम' 'स्वम्' 'त्वम्' आदि ही उच्चारण किया जाय तो गलत नहीं होगा। फिर भी यह असली तौर पर 'ओम्' की एक नकल होगी और यही ज्यादा उचित भी है। अन्य कोई भी ध्वनि इससे अधिक मेल खाने वाली न होगी। इसीलिए इसे 'बीज मन्त्र' (वास्तविक उपाय, वास्तविक योजना, वास्तविक प्रबन्ध) कहते हैं। यह मूल है और तीनों लोकों की अन्य सभी वस्तु इसकी अनुकृति है।

वेद चार नहीं तीन ही हैं क्योंकि ओम् में केवल तीन ही

प्रकार की ध्वनियाँ हैं। चार वेद तो वस्तु, विषय और क्रमबद्धता के आधार पर माने जाते हैं। इस संसार में केवल तीन चीजें अभ्यास, पसन्द अथवा चयन के योग्य हैं तथा विचारणीय हैं: सत् (अस्तित्व), चित् (ज्ञान) और आनन्द।

संसार में केवल तीन ही अस्तित्व, तीन ही ज्ञान और तीन ही आनन्द हैं।

(१) अस्तित्व तीन प्रकार का है:
- (अ) अस्तित्व का—सत्
- (ब) ज्ञान का —चित्
- (स) आनन्द का—आनन्द

(२) ज्ञान तीन प्रकार का है:
- (अ) अस्तित्व का—सत्।
- (ब) ज्ञान का—चित्।
- (स) आनन्द का—आनन्द।

(३) आनन्द तीन प्रकार का है:
- (अ) अस्तित्व अथवा जीवन का—सत्।
- (ब) ज्ञान का—चित्।
- (स) आनन्द का।

वेदों पर संशय किया जा सकता है क्योंकि वेद-मन्त्र, श्रुति या उद्गीत तो वास्तव में ओम् है उनमें 'भव' की प्रवृत्ति, गिने जाने का गुण और मानव हृदय के दिली भाव भी होते हैं।

इसीलिए वे जब कभी भी शब्दबद्ध होते हैं तो उनमें कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है । उदाहरण के लिए एक ही इकाई जोड़, बाकी, गुणा व भाग के अन्तर्गत लम्बे चौड़े और छोटे-मोटे हिसाब का रूप धारण कर लेती है। सारा हिसाब उलट-फेर और विरोधाभास के बावजूद भी इकाई ही है और केवल इकाई के रूप में रहता है ठीक वैसे ही जैसे जल विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होने पर झरना, कुआँ, तालाब, नदी या नहर आदि का रूप धारण कर लेता है फिर भी हर हालत में वह जल ही रहता है। या, एक दूसरा उदाहरण ले लें। एक बीज अपने में जड़, वृक्ष, शाखायें, पत्तियाँ, फल और फूल सब समाहित किये रहता है और इन सभी रूपों से गुजर कर वह पुनः बीज हो जाता है जो इसका आरम्भिक रूप था। उसी प्रकार ओम् ओम् ही रहता है। यद्यपि वह शब्द के रूप में बँध जाता है। ओम् के इस प्रकार के विभिन्न संयोग के कारण वेदों को विभिन्न छन्दों और मंत्रों में बनाया गया। चूँकि इस शब्द में मानवीय भाव भी रहते हैं इसलिये उसके कार्य और प्रभावों में भी मानसिक आर्द्रता, प्रेम और पौरुषता, बल एवं मन्दी, मित्रता एवं शत्रुता आदि दृष्टिगोचर होते हैं। वे मनुष्य की इच्छाशक्ति को बल देते हैं और स्वयं भी विभिन्न उपलब्धियों, शक्तियों, और चमत्कारों तथा आदतों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। मंत्र के उच्चारण करने की यही विधि है। यह आवश्यक है कि मन्त्र का उच्चारण विशेष प्रयोजन के लिये विशेष ढंग से किया जाय तभी एक विशेष

प्रभाव उत्पन्न होगा। यह सिद्धान्त संगीत विज्ञान की आत्मा है। यदि आप एक शब्द का उच्चारण करते हैं या हृदय में एक विशिष्ट भाव रख कर गाते हैं तो एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न होता है।

मेघ का जल तो जल ही है। बार-बार बूँद के रूप में गिरते रहने से शिलाओं को एक विशेष रूप देता है। उस भूमि को जिस पर वह प्रवाहित होता है, शक्ति प्रदान करता है और बीज को यथासम्भव पूर्ण सीमा तक अपने को व्यक्त करने की क्षमता प्रदान करता है।

वही वायु सर्वत्र रहता है। वह रोगी का रोग बढ़ाता है; शक्तिशाली की शक्ति विकसित करता है, हर्षित व्यक्तियों के हर्ष की वृद्धि करता है तथा विक्षिप्तों की विक्षिप्तावस्था बढ़ाता है। वही सिद्धान्त इसके द्वारा शासित सभी मामलों और विषयों में लागू होता है। वही बात ओम् के साथ विभिन्न प्रभावों को पैदा करने में है। संगीत का उदाहरण लीजिये। मनुष्य के आन्तरिक विचारों का रहस्य ओम् में छिपा रहता है। एक शब्द के संयोजन और क्रम परिवर्तन से गीत या कविता लम्बी या छोटी हो जाती है।। 'टन' की ध्वनि घण्टे से उत्पन्न होती है। घण्टा यदि एक बार ही बजाया जाता है तो केवल 'टन' ही सुनायी पड़ता है। यदि दो-बार, तो 'टन-टन' सुनायी पड़ता है, और यदि तीन बार बजाया जाता है तो जो सुनायी पड़ता है वह 'टन-टन-टन' होता है। ओम् सभी ध्वनियों की

जननी है। आपके डकारने, छींकने और जम्हाई लेने में भी विद्यमान रहता है। जो कोई भी ध्वनि आप सुनते हैं—घण्टे की ध्वनि, शङ्ख, बाँसुरी, तबला व मृदङ्ग आदि, यदि आप मनोयोग से सुनें तो वही ओम् सुनायी पड़ता है। इस पर ऋषियों ने पर्याप्त रूप से सोचा है और प्रकाशित किया है।

जब मन्त्रकाल आया तो लोग असलियत को खो बैठे। परन्तु चूँकि उनमें ऋषियों की वाणियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति थी, उन्होंने मंत्रों को ही श्रुति मान लिया और उस विचार को श्रद्धापूर्वक विकसित किया।

अस्तित्व—व्यक्त जगत

श्रुति पूर्ण शब्द है। इसी से रचना की धारा फूटती है। इस धारा ने तीन रूप धारण कर लिया है (१) निर्माण, सृष्टि या व्यक्तीकरण (२) स्थिति, संरक्षण अथवा मध्य; (३) प्रलय या अन्त। ये तीनों अवस्थायें ओम् में बीज रूप में विद्यमान हैं। इन अवस्थाओं का क्रम सदैव एक के बाद दूसरे का अनुसरण करता है अर्थात् निर्माण, स्थिति एवं विनाश के रूप में कार्य करता है। चूँकि वह सब है, और सबको घेरे हुए भी है अतः उसमें ज्ञान विद्यमान रहता है। नहीं, वह स्वयं ज्ञान है। यह आवश्यक है कि शब्द के साथ ज्ञान हो। शब्द और अर्थ सदैव साथ-साथ रहते हैं और दोनों एक ही हैं। इस दृष्टि से श्रुति को "तीन लोकों का ज्ञान" कहा जाता है।

ओम् से किस प्रकार तीन गुण, तीन मात्रा, तत्त्व तथा प्रकृति की उत्पत्ति हुई, यह सांख्य दर्शन की विचारधारा का विषय है। इसका विस्तृत वर्णन अलग से किया गया है। मनुष्य जीवन किस प्रकार अपनी विशेषताओं सहित अपनी अभिव्यक्ति करता है यह विषय मनुष्य जीवन—जो कर्म या व्यवहार है—से सम्बन्धित है।

ओम् में तीन विशेषतायें हैं :

(१) अ उ म्। 'अ' प्रारम्भ है, 'उ' मध्य तथा 'म्' अन्त। ओम् सर्वधारक है।

(२) 'अ' सत्, 'उ' चित तथा 'म्' आनन्द है। ओम् सच्चिदानन्द है।

(३) 'अ' आधार या नींव है; 'उ' दीवार है और 'म्' छत है। ओम्' तीनों ही है।

(४) 'अ' कर्म है, 'उ' ज्ञान और 'म्' उपासना है।

(५) 'अ' शरीर है, 'उ' हृदय है और 'म्' आत्मा है। ओम् तीनों ही है।

(६) 'अ' सत्त्व है, 'उ' रज है और 'म्' तम है। ओम् इस प्रकार त्रिगुणात्मक है।

इनके अतिरिक्त हृदय के भावों को व्यक्त करने

और समझाने-बुझाने के लिये उनके स्थान पर व्यवहार, प्रतिभास और परमार्थ ऐसे शब्द गढ़ दिये जाते हैं।

(अ) व्यवहार-सत् है। (ब) प्रतिभास- चित् है (स) और परमार्थ-आनन्द है।

सत् अस्तित्त्व है। व्यवहार उस अस्तित्त्व के व्यक्तीकरण का साधन है। व्यवहार जगत् के क्रिया कलाप, संघर्ष, पेशा, कला और उद्योग तथा कर्म और धर्म है। इन सबका व्यक्तीकरण सत् और सत्पने के ही द्वारा होता है क्योंकि यदि अस्तित्त्व न रहता तो कोई भी यह सब न कर सकता और न तो इनके करने की सम्भावना ही रहती।

सभी कर्म, धर्म का सम्बन्ध शरीर से है। इसीलिए यह शरीर ही व्यक्तीकरण का सुस्पष्ट और खुला हुआ रूप है। इस दृष्टि से शरीर सत् है। अतः इस शरीर के शरीरी कारोबार (कर्म) को वेद का प्रारम्भ मानते हैं। कर्म जीवन की प्रथम और सर्वोपरि आवश्यक शर्त है। अस्तित्त्व (स्थिति) का अनुमान शरीर के बिना कैसे किया जा सकता है? शरीर तीन प्रकार के होते हैं:

(१) बाह्य या स्थूल शरीर—यह इन्द्रियों, मांस, त्वचा, अस्थि, रक्त, वसा, आदि का बना होता है। यह अन्नमय कोष है, जो भोजन से बनता है।

(२) सूक्ष्म शरीर—यह मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार

का बना होता है। यह मनोमय कोष है। जो ज्ञान या विचार अथवा बुद्धि व शिष्टता और मनन एवं चिन्ता रूपी भोजन से बना होता है, वह विज्ञानमय कोष है।

(३) आत्मा या कारण शरीर—यह सुख, हर्ष व आनन्द का बना होता है। यह आनन्दमय कोष है जिसका भोजन हर्ष है। इन सबके नाम एवं काम पर गहराई से विचार करने से इन सबके शरीर-अस्तित्त्व होने का पता लगेगा।

स्थूल शरीर का बोध जागृत अवस्था में होता है। सूक्ष्म शरीर का बोध स्वप्नावस्था में होता है जिसका सम्बन्ध मन से है। कारण शरीर का बोध सुषुप्ति अवस्था में होता है। यह स्वयं ही आत्मा है।

इनका ज्ञान तीन प्रकार से होता है: (१) स्थूल शरीर का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से अर्थात् इन्द्रिय जन्य ज्ञान से होता है जो पाँच प्रकार के हैं: रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श।

(२) सूक्ष्म शरीर का ज्ञान अनुमान से होता है जिसमें ध्यान और चिन्तन, अन्तर्दृष्टि, समझ व बुद्धि, तर्क और निर्णय की क्रिया होती है। इसमें चित्त, मन, बुद्धि व अहङ्कार सम्मिलित रहते हैं।

(३) कारण शरीर या आत्मा शरीर का ज्ञान शब्द-प्रमाण द्वारा होता है।

विद्वान पण्डित लोग शब्द-प्रमाण द्वारा व्यक्त जगत् की एकता का अर्थ सम्भवतः यह समझते हैं कि परलोक बाह्य इन्द्रियों द्वारा देखा जा सकता है और इस पर लड़ते-झगड़ते हैं। परन्तु, इसका वास्तविक अर्थ ऊपर बताये हुए की भाँति है। इसका अनुभव आन्तरिक रूप से होता है। वहाँ बाह्य इन्द्रियाँ और व्यावहारिक बुद्धि कार्य नहीं कर सकती। अतः यह सब शरीर ही है, और मात्र शरीर ही अस्तित्त्व है। शरीरों में स्थूल शरीर ही ठोस कर्म, सांसारिक क्रियाओं आदि का साधन (औजार) माना जाता है।

स्थूल शरीर कर्म का औजार या साधन है। बल्कि यह स्वयं कर्म है। बिना कर्म के यह रह नहीं सकता।

सूक्ष्म शरीर ज्ञान या सोच-विचार का साधन है। बल्कि यह स्वयं ज्ञान है। यह बिना सोचे या समझे रह नहीं सकता।

कारण शरीर या आत्मा, आनन्द अर्थात् हर्ष का औजार (साधन) है। बल्कि वह स्वयं आनन्द है और बिना हर्ष के रह नहीं सकता।

इस दृष्टि से कर्म प्रारम्भ, ज्ञान मध्य, तथा आनन्द अन्तिम अवस्था है। यही कारण है कि कर्म को वेद का प्रारम्भ माना जाता है।

———

अध्याय ३

कर्म

कर्म आवश्यक क्यों है ? कर्म जीवन की अभिव्यक्ति की विधि है। कर्म के बिना किसी अस्तित्त्व का अनुमान करना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि हर शरीरधारी अस्तित्त्व को कर्म करना पड़ता है, पड़ा है और पड़ेगा। जीवन व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता क्योंकि सभी अस्तित्त्व का यह प्राकृतिक गुण है। कोई जीवन अपने को व्यक्त किये बगैर नहीं रह सकता। इसका प्राकृतिक व्यवहार प्राकृतिक नियम के अनुसार होता है। परन्तु कर्म सदा विद्यमान नहीं रहता। गति के बाद विराम (ठहराव) की अवस्था आती है। कर्म शाश्वत नहीं है। परन्तु जिसे शान्ति और आनन्द कहते हैं क्या वह भी कर्म नहीं है ? तीनों प्रकार के शरीर मिल-जुल कर कर्म करने में लगे रहते हैं। स्थूल शरीर में शारीरिक गति है, सूक्ष्म शरीर में वैचारिक गति और कारण शरीर में शान्ति अथवा ठहराव सम्बन्धी गति है जिसे आनन्द कहते हैं।

शरीर, हृदय और आत्मा—ये तीनों ही शरीर हैं। स्थूल शरीर कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की गति के लिये विशिष्ट है। हृदय विचार और चिन्तन की वैचारिक गति अपने अन्दर

रखता है जिसमें सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सम्मिलित रहती हैं। इसमें गति और विराम दोनों ही हैं। शान्ति या विराम आत्मा का कर्म है जिसमें तीनों प्रकार की गतियाँ बीज रूप में रहती हैं। आत्मा भी शरीर और हृदय की ही भाँति कर्म से मुक्त नहीं होता किन्तु इस लेख में कर्म से तात्पर्य मांस और त्वचायुक्त स्थूल शरीर के बाह्य व्यक्त कर्म से है, जिसे वेद का आरम्भिक स्वरूप कहते हैं। इसी को सामान्यतया कर्म कहते हैं। संस्कृत में देह शब्द 'दिह्' धातु से निकला है जिसका अर्थ 'एकत्र करना', 'जमा करना', 'समेटना' होता है। चूँकि यह शरीर उन तत्त्वों के मेल से बना है और उनके एक दूसरे के साथ इकट्ठा होने से उसका गठन और क्रम बना है और साथ ही साथ वह इकट्ठा करने का आकांक्षी रहता है अतः इसे ऋषियों ने देह कहा है। चूँकि यह संसार द्वन्द्व का स्थान है अतः प्राकृतिक व्यवस्था में सिमटाव के साथ बिखराव, जोड़ के साथ बाकी एवं गुणा के साथ भाग के सिद्धान्त भी कार्य करते हैं। यह परस्पर विरोधी तत्त्वों का संग्रह है। यह शरीर भी इसी कारण परस्पर विरोधी अर्थात् ग्रहण और त्याग, दोनों प्रकार के, कर्म करता है। यह भी एक प्रकार का प्राकृतिक नियम है।

स्थूल देह स्थूल तत्त्वों के मेल से बना है।
सूक्ष्म देह सूक्ष्म तत्त्वों के मेल से बना है।
कारण देह या आत्मा कारण तत्त्वों के मेल से बना होता है।

निम्नलिखित तत्त्व स्थूल हैं :

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। इनके परमाणुओं द्वारा स्थूल देह संगठित और व्यवस्थित हुआ।

निम्नलिखित तत्त्व सूक्ष्म हैं :

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इनके परमाणुओं से सूक्ष्म शरीर बना है।

उपर्युक्त पाँच तत्त्वों के जो बीजरूप कारण मात्र परमाणु हैं उनसे कारण देह का निर्माण हुआ है। तीनों शरीरों का संगठन एवं व्यवस्था परमाणुओं के मेल से ही होती है। इसी लिये तीनों के गुण, कर्म एवं स्वभाव उन परमाणुओं के अनुसार ही होते हैं।

यदि कोई आत्मा को यौगिक या विभाज्य पदार्थ नहीं स्वीकार करता तो क्या उसके न मानने से असलियत में कोई अन्तर आता है? वास्तविकता तो जैसी है वैसी ही रहती है। जिसकी जहाँ तक समझ है उसने वहाँ तक उसे समझा। वेदान्ती, सांख्यवादी और योगीजन, यहाँ तक कि ऋषि मुनि भी इसे समझने में धोखा खा गये हैं। तर्कशास्त्र ने भी तीनों शरीरों को माना है परन्तु इसका ख्याल तक न हुआ कि कारण शरीर स्वयं ही आत्मा है। अब हमें आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना चाहिये।

आत्मा संस्कृत भाषा के 'आत्' (अथ) और 'मनन' से बना है। 'आत्' का अर्थ गति या हरकत और 'मनन' का अर्थ चिन्तन है। जिसमें गति और चिन्तन हो, वह आत्मा है। आत्मा

ही कारण शरीर है जो बीजरूप है और एक यौगिक है। इसी की अभिव्यक्ति देह (स्थूल शरीर) और हृदय (सूक्ष्म शरीर) के क्षेत्रों में होती है। यह जब जाग्रत के क्षेत्र में आता है तो इसकी धार की गति के कारण कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में गति उत्पन्न हो जाती है। जब यह हृदय के स्थान (स्वप्नावस्था) में आता है तो विचार और चिन्तन में रहता है। और जब यह अपनी धार को सुषुप्ति की हालत में समेट लेता है तो अपने मौलिक रूप में मग्न होकर अपना सुख, आनन्द भोगता है। अतः जिस वस्तु में गति चिन्तन और निमग्नता की विभिन्न अवस्थाएँ हों तो फिर वह सरल औंर अविभाज्य किस तरह रह सकता है ? उसे तो एक यौगिक ही होना चाहिये।

कर्म स्थूल शरीर का स्वभाव या धर्म है। जिस प्रकार शरीर की बनावट प्राकृतिक है उसकी गतिशीलता भी प्राकृतिक है। और उसी प्रकार शुभ और अशुभ फल का नियम भी प्राकृतिक है। हर शरीरधारी जीव है। जीव कहते हैं जीवित अस्तित्त्व को जो गतिशील है और जिसकी गति में प्रगति, विचार एवं चिन्तन का सिद्धान्त काम करता है।

जीव आत्मा है, क्योंकि वह जिसमें 'आत्' अर्थात् गति और 'मनन' अर्थात् विचार और चिन्तन हो वह आत्मा है। यह आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म बढ़ने और सोचने वाली सृष्टि को कहते हैं—यह ब्रह्म संस्कृत धातु 'बृह' अर्थात् बढ़ना और 'मनन'

अर्थात् सोचने या चिन्तन से निकला है। जो गति करे और सोचे वह आत्मा है। और जो बढ़े और सोचे वह ब्रह्म है। इस दृष्टि से जहाँ भी जीव है वह सब ब्रह्म है। गति एवं प्रगति लगभग समानार्थक है। माना कि गति में बढ़ना एवं घटना दोनों ही हैं किन्तु ये दोनों ही प्रगति सिद्धान्त कहे जाते हैं। बढ़ना (प्रगतिशील) अग्रगामी (Progressive) प्रगति है और घटना प्रतिगामी (Regressive) प्रगति है। दोनों ही हालतों में बढ़ने का अभिप्राय सम्मिलित है। एक तो ऊपर की ओर उछालती या आगे की तरफ ढकेलती है और दूसरी नीचे गिराती या पीछे की ओर ले जाती है। किन्तु इस गिरने और घटने अर्थात् रेंगने और सिकुड़ने में बढ़ने का ही भाव होता है। घटने के भाव का पता तक नहीं रहता। जिस प्रकार चलती हुई गाड़ी के पहिये आगे बढ़ते ही जाते हैं, आगे और पीछे की ओर गति करते हुए, ठीक वैसी ही हालत जीव, ब्रह्म या आत्मा की है। गति या बढ़ना स्थूल देह का गुण है; और सोचना समझना सूक्ष्म देह का गुण है। यह दोनों मिले-जुले काम करते रहते हैं। इसलिये यदि उनकी दिशा प्राकृतिक संयोजन या मिलान और गुण के अनुसार प्रगति की ओर है तो काम बराबर होता रहता है। परन्तु यदि मन या सूक्ष्म शरीर में वैयक्तिक विशिष्टता का ख्याल आ गया तो उसके अन्दर विचाररूप में नेकनीयती और बदनीयती का ख्याल पैदा हो जाता है। इस नेकनीयती और बदनीयती के अन्दर स्वतः ही अच्छे और बुरे विचार आ जाते हैं। नीयत वाला मनुष्य अन्तर

से जानता रहता है कि नेकी अच्छी है और बदी बुरी है। और जहाँ यह ख्याल होता है वहाँ शुभाशुभ फल का सिद्धान्त भी लागू हो जाता है। उसी के अनुसार जीव स्वतः ही अच्छे और बुरे कर्मों का फल पाता है। यही शुभाशुभ फल है। यह उतना ही प्राकृतिक है जितना विकास और चिन्तन। जिस वैयक्तिक अस्तित्त्व में नेकी और बदी का भाव नहीं है अर्थात् जिसको नेकनीयती और बदनीयती का ख्याल भी नहीं है उसके लिए शुभाशुभ परिणाम नहीं है। वह तो ठीक एक शिशु की भाँति बढ़ता, सोचता और चलता है।

यह तीनों ही शरीर प्रत्येक अस्तित्त्व में मौजूद हैं। परन्तु चूँकि किसी में किसी की विशेषता अधिक और किसी में कम रहती है अतः तदनुसार विभिन्न अवस्थायें बिल्कुल स्पष्ट रहती हैं।

(१) खनिजों में कारण शरीर स्वयं ही स्थूल होता है। दूसरे शरीर इसी में सम्मिलित रहते हैं। यद्यपि यह बाह्यरूप में अचेतन रहता है परन्तु यह परमाणुओं को अपने अन्दर उसी प्रकार खींचता, मिलाता और शोषित करता है जिस प्रकार गहरी निद्रा में पड़े हुए व्यक्ति को दूध पिला दिया जाता है। खनिजों में कारण शरीर और सुषुप्ति स्थूल दशा में रहते हैं।

(२) वनस्पतियों में कारण शरीर के साथ स्थूल शरीर होता है और सूक्ष्म शरीर उसके अन्तर्गत रहता है। वे गतिमान और

स्थिर दोनों प्रकार के परमाणुओं को उसी प्रकार अपने में खींचते, संयुक्त करते तथा शोषित करते हैं जिस प्रकार एक नवजात शिशु। उनमें स्वप्न और सुषुप्ति दोनों ही अवस्थायें पायी जाती हैं।

(३) पशुओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तीनों ही हैं। वे तीनों शरीरों में खाते-पीते, सोते-जागते और सभी सुख-दुःख भोगते हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें उनमें पायी जाती हैं।

(४) मनुष्यों में तीनों शरीर स्थूल, सूक्ष्म व कारण होते हैं। इन शरीरों के सम्बन्ध में उनके भरण-पोषण, वृद्धि-प्रगति, विचार और सुख को बल प्राप्त होता है। उनमें से कुछ में एक चौथी दशा होती है जिसका विवेचन इस श्रृङ्खला-क्रम के अन्त में किया जाएगा। जिनमें यह दशा प्रारम्भ हो गयी है मनुष्यों में ही गिने जाते हैं अन्यथा वे भी पशु के समान ही हैं। वे जानवरों की श्रेणी में आते हैं। यदि आप ऐसे मनुष्यों के जीवनक्रम और कार्यों को देखें तो आप पायेंगे कि वे वह सब करते हैं जो पशु करते हैं।

नरपशु गुरुपशु त्रियापशु वेदपशु संसार।
मानुष सोई जानिये जाहि विवेक विचार॥

"मनुष्य, गुरु, स्त्री और वेद की उपासना करने वाले सभी

इस संसार में पशु ही हैं। उसे ही मनुष्य समझना चाहिये जिसमें विवेक और विचार हो।"

जो लोग ईश्वर और अपनी स्थिति को न समझकर ईश्वर की उपासना अपनी दृष्टि से नहीं बल्कि ईश्वर की दृष्टि से करते हैं ईश्वर उनके लिये विष्णु की स्थिति छोड़कर रुद्र रूप बनकर रुलाता रहता है। वे जो अपनी और देवताओं की स्थिति न समझकर देवताओं की उपासना अपनी दृष्टि से नहीं वरन् देवताओं की दृष्टि से करते हैं उन्हें देवतागण बोझ ढोने वाले पशु बना रखते हैं। वे जो अपनी और गुरु की स्थिति न समझ कर गुरु की उपासना अपनी नहीं बल्कि गुरु की दृष्टि से करते हैं उनके लिये गुरु काल-रूप अर्थात् शैतान-सिफत (शैतान के गुणों वाले) हो जाते हैं – दयालुरूप त्यागकर वह उनकी कमाई (अर्जन) सभी को निगल जाते हैं और उन्हें पशु बनाकर रखते हैं। ऐसे मनुष्यों को मोक्ष नहीं मिलता। वे सदैव पशु के पशु ही बने रहते हैं, जब तक कि वे दुःख और कष्ट भोगकर हार्दिक-उभार के साथ अपनी मानवता के अधिकारों के भागी नहीं हो जाते। वे इस दशा को बहुत समय बाद प्राप्त कर पाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को इस प्रकार समझाया है :—

"ओ मैत्रेयी ! जो ब्रह्म, ईश्वर, वेद, पुत्रगण और आत्मा को अपनी नहीं बल्कि उनकी दृष्टि से जानते हैं, ब्रह्म, ईश्वर, वेद आदि उन्हें विनष्ट कर देते हैं।"

योग का उद्देश्य मन की एकाग्रता और एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक अपनी दशा का परिवर्तन है। मस्तिष्क में आध्यात्मिक केन्द्रों पर मन को ठहराने से व्यक्ति को स्वतः अनुभव होता है और वह सत्य को जान लेता है। चूँकि जीव कर्म, धार्मिक और नैतिक संहिताओं से बँधा रहता है उसकी पहुँच वहीं तक सीमित रहती है।

अब हम कर्म के प्रकार और उनके शुभाशुभ फलों पर विचार करेंगे।

प्रकृति के नियमानुसार जीवों के दो कर्म हैं जिनके लिए न शुभ फल है और न अशुभ। उनका उद्देश्य केवल गति (हरकत) चिन्तन और आनन्द (राहत) है जिनका सम्बन्ध जीवों के तीनों शरीरों से होता है।

जीव वास्तव में आत्मा और ब्रह्म है जिनका गुण है (१) गति के साथ चिन्तन और चिन्तन के साथ गति। (२) चिन्तन के साथ वृद्धि और वृद्धि के साथ चिन्तन। पहली आत्मा की विशेषता या परिभाषा है और दूसरी, ब्रह्म की। अन्तर इतना ही है कि आत्मा सीमित है और ब्रह्म असीमित। यही कारण है कि ब्रह्म को परमात्मा भी कहते हैं। ब्रह्म के लिये तो शुभ और अशुभ फल का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह पूर्ण है। यह प्रश्न तो केवल अंश के बारे में उठता है। अंश को अल्पज्ञ कहते

हैं, और ब्रह्म को सर्वज्ञ। सर्वज्ञ सत्ता अपने आप में एक पूर्ण विधि है जो पूर्णता की एक प्रतीक है। अंश में सीमित ज्ञान अथवा अल्पज्ञान का दोष होता है और प्रश्नोत्तर सदा दोष की अवस्था में ही उठते हैं। दोष का अर्थ कमी है जिसे पूरा किया जा सकता है। पूर्णता स्वतः ही सर्वदा भरा-पूरा है। इसे और अधिक पूरा भला कोई क्या करेगा। इसलिये पूर्णावस्था में न तो शुभ फल है और न अशुभ फल।

आत्मा को जीव तब कहते हैं जब उसमें जीवन की कामना होती है। जीव वह है जिसमें जीवन की कामना हो। जीव का ध्यान सदैव कमी और अपूर्णता की ओर होता है। यह सदैव कमी और निर्भरता अनुभव करता रहता है जो कष्ट और दुःख का कारण है। और यही कारण है कि जीव अपना जीवन दुःखों से भरा पाता है। दुःख के प्रभाव के कारण वह अपने आप में कई खराबियाँ पैदा कर लेता है जैसे अपना लाभ और दूसरों की हानि चाहना, आदि। द्वैत अर्थात् दो प्रकार के इसके विचार और कर्म उसकी दृष्टि में पृथकत्व पैदा करते जाते हैं। अर्थात् जीव अपने आपको निरर्थक, निर्धन, क्षुद्र एवं निम्न समझने लगता है और दूसरों की स्थिति अपने से उच्च समझने लगता है। वह अपनी स्थिति का निन्दक और दूसरों की स्थिति का प्रशंसक बना रहता है। अर्थात् अपने आपको दूसरों से भिन्न समझने लगता है।

पृथकत्व की यह भावना जीव को विविधता की स्थिति

में डाल देती है जिसे वह पसन्द करने लगता है। अर्थात् सबको एक जैसा न मानकर वह दूसरों को भिन्न, अनेक और अगणित रूप में देखने लगता है। इसे विविधता के प्रति प्रेम अथवा राग कहते हैं।

जीव स्वयं अपने को नहीं वरन् दूसरों को देखता है। यह खराबी उसे भ्रम में डाल देती है। उसकी दृष्टि बहिर्मुखी हो जाती है, अन्तर्मुखी नहीं। बहिर्मुखता के कारण इसकी स्थिति उस व्यक्ति के समान हो जाती है जो वर्षाकाल में अपने घर से बाहर निकल गया हो। तब वह जैविक कर्म (अर्थात् जीवन से उत्पन्न और उसके पोषक कर्म) करने लगता है जिनमें आश्चर्य, लालसा, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतियोगिता, शत्रुत्व, स्वार्थ और वासना आ जाती है। दूसरों की भावना को ठेस पहुँचाना इन कार्यों में सबसे बुरा है। संक्षेप में इन सब कार्यों के लिये दण्ड का विधान है। जीव दण्डित होने के बाद और कष्ट और दुःख की अनुभूति के बाद सच्चे मार्ग और सच्चे कर्म के बारे में सोचने लगता है। तब वह सबकी उन्नति और भलाई चाहने लगता है। दूसरे शब्दों में, मानों बुराई के गर्भ से अच्छाई का जन्म होने लगता है। तब वह दान, क्षमा, विनम्रता, परहित आदि की भावना को बल दे-देकर उभारने लगता है और अनुभव उसे सही रास्ते तथा सन्मार्ग पर ला देता है। इन कार्यों के लिये पुरस्कार मिलने लगता है, तब वह समझता है कि गुण अच्छा है और दोष बुरा है। यह दोनों की तुलना करके सही कार्य को

गलत कार्य से श्रेष्ठ मानने लगता है। यहीं से पाप और पुण्य की परस्पर विपरीत अवस्थाओं की सृष्टि होती है। कुछ समय तक वह इनकी खींच-तान में रहता है; और फिर जब वह गलत को पूर्णतया त्याग देता है तथा पूर्णरूपेण अच्छा बन जाता है, तब यह प्रकृति के विधान अर्थात् सृष्टि कर्म (सृष्टि से उत्पन्न होने वाले और उनका पोषण करने वाले कर्मों) के साथ अनुकूलता और समरूपता पैदा करने लगता है। परन्तु तब भी उसमें सही और गलत के ज्ञान और अनुभव का तत्त्व शेष रहता है (जो दोषरहित नहीं है)। वह सदैव यह निष्कर्ष निकालता रहता है कि यहाँ अहिंसा सबसे बड़ा गुण और हिंसा सबसे बड़ा पाप है।

कर्म के दो प्रकार

कर्म दो प्रकार के होते हैं; उचित कर्म और अनुचित कर्म। वह कर्म जो सुख प्रदान करे उचित या सही है और जो सुख न दे वह अनुचित है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या लूट और डकैती जैसे कार्य वास्तव में सुख देते हैं या नहीं। एक व्यक्ति किसी कार्य को करने से यदि सुख प्राप्त करता है और उससे लेशमात्र भी दुख नहीं होता तो वह जो चाहे कर सकता है। कोई किसी को भी ऐसा करने से रोक नहीं सकता। परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि प्रारम्भ में मनुष्य अपने अज्ञानवश भले ही उसको

सुख समझ ले पर अन्त में इन कामों का परिणाम बुरा और दुःख का कारण होता है। हम आज जिस वातावरण में रहते हैं वह पुण्य और पाप के भाव से भरा है। प्रथमतः इसका प्रभाव स्वयं ही सार्वभौमिक हो रहा है, दूसरे, चोरी और हत्या में लगा व्यक्ति पुण्य और पाप के विचार से प्रभावित है। इसीलिए उसका कार्य साहस के साथ नहीं होता। चोर अपने को छिपाता है और चोरी करता है। जब हालत ऐसी है तो बुराई करने वाला पहले स्वयं अपने हृदय में बुरा बन लेता है और तब दूसरों के प्रति बुरे कार्य करता है।

बुराई हृदय को गन्दा, अपवित्र और ठोस बनाती है जिससे दुःख की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति जिसे कष्ट दिया जाता है अवश्य ही दुःख का अनुभव करता है; उसके हृदय से एक कष्ट की धारा प्रवाहित होती है जो दुःख-दाता को दुःखी कर देती है। एक उदाहरण लें—यदि आपका पड़ोसी दुःखी है तो आप उसके दुःख के प्रभाव से किसी प्रकार बच नहीं सकते। यह दुःख एक जहरीले ईन्धन के धुएँ के समान है। इसे किसी घर में जलाइये। इसकी कड़वाहट पड़ोसी घरों में फैल जायेगी। वही बात नेकी के सम्बन्ध में है। यदि आप नेक हैं तो आपके इर्द-गिर्द लोग आवश्यक रूप से सुख के भागी होंगे। इस संसार की तुलना हमारे शरीर से की जा सकती है। यदि एक अङ्ग रूग्ण हो जाता है तो सारा शरीर प्रभावित हो जाता है। इसलिए अच्छे लोग बदी से दूर

रहते हैं और नेकी में संलग्न रहते हैं। यह एक सरल साधारण सत्य है।

पुण्य और पाप की विशेषताएँ

वह कार्य पापपूर्ण है जिसके करने से भय, हिचकिचाहट और लज्जा आवे; और वह कार्य पुण्य है जिसके करने में निर्भयता, शौर्य और साहस हो। परन्तु शिक्षा, व्यक्तिगत नैतिकता, सामूहिक शिष्टाचार और व्यक्तिगत अनुभव का भी प्रभाव होता है। शिक्षा सिद्धान्त और नैतिकता आदि के इस प्रभाव की प्रवृत्ति सामान्यतः गुण (नेकी) की ओर होती है। इसलिए ऐसा कोई कार्य न करना चाहिए जो इनके विपरीत हो। वे सभी चीजें जिनपर धर्म, गुरु, शास्त्र, स्वयं अपनी अन्तरात्मा सहमत हो, उचित है और वे जिनपर उनमें मतभेद हो, अनुचित है।

धर्म, शास्त्र, गुरु और अन्तरात्मा सर्वसम्मत से बुरी चीज पर कभी सहमत नहीं होते। यही अच्छे और बुरे कर्म की कसौटी है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो इस सिद्धान्त का पालन करना चाहिए कि जो अपने लिए न पसन्द हो उसे औरों के लिए भी न पसन्द किया जाय। ऐसे बहुत से कार्य हैं जिनके करने से न तो पुण्य होता है और न पाप। उदाहरणार्थ, नित्य स्नान करना, हाथ-मुख धोना आदि। परन्तु यह सब न करने से हमारे स्वास्थ्य के बिगड़ने का भय रहता है। बड़ों को

आदर न देने से पुण्य तो कोई नहीं होता, पाप अवश्य होता है क्योंकि सामाजिक सद्व्यवहार की नियमावली में इनकी आवश्यकता स्वीकृत है और उनका पालन न करने से सांस्कृतिक पहलू का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। वही बात लोक-वेद और कुल-रीति के बारे में लागू होती है। यह सभी उचित कार्य हैं। यज्ञ आदि करना वास्तव में बन्धनकारक नहीं है। बन्धन, मन, विचार और विश्वासों में होता है। यज्ञ वास्तव में पूजा है। अपने से बड़ों, छोटों और अपने मातहतों को अपने व्यवहार और तौर-तरीकों से प्रसन्न रखना चाहिए। अपने पास-पड़ोस के वातावरण को सुन्दर बनाये रखना चाहिए। अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और आकाश को यथासंभव अपवित्र नहीं करना चाहिए। यह सब यज्ञ है। इनका पालन जीवन की आरम्भिक अवस्था में अत्यन्त आवश्यक है। इनसे बुराई नहीं पैदा होती। हाँ, दूसरे प्रकार के यज्ञ जो किसी व्यक्ति या वर्ग को हानि पहुँचाने के विशेष प्रयोजन से किये जाते हैं अवश्य ही आपत्तिजनक हैं। कर्म का अर्थ तो केवल जीवन की अभिव्यक्ति है। यदि जीवन अपनी अभिव्यक्ति बिना किसी को हानि पहुँचाए प्राकृतिक रूप में कर सकता हो तो उसे करना चाहिए। उसमें न पुण्य है और न पाप। पाप और पुण्य वहीं रहता है जहाँ सही और गलत का सापेक्षिक रूप में भाव रहता है। इस प्रकार पाप और पुण्य बन्धन की कड़ियों का निर्माण करते हैं जिनसे मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। अन्यथा मुक्ति एवं बन्धन का भाव भी कदाचित हमारे मन में

उत्पन्न न होता। इससे अपने को बचाने का उपाय यह है कि बुरी प्रवृत्ति (दुर्भावना) को अच्छी प्रवृत्ति (सद्भावना) में बदल दिया जाय, तब कार्य किया जाय। इस अनुभव के आधार पर संसार के व्यक्तियों की निस्वार्थ भाव से सेवा करना ही सर्वोत्तम तप और तपस्या, यज्ञ और पूजा है—इबादत बजुज़ खिदमते-खल्क नेस्त। (लोक सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई उपासना नहीं है।) जो इस प्रकार कार्य करता है, कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार का कर्म इस स्थूल शरीर का धर्म है।

अज्ञानियों को ही शुभ और अशुभ फल भोगना पड़ता है। समझ-बूझ रखने वालों को ही अज्ञानी कहते हैं और वे जो न कुछ जानते हैं और न समझते हैं अज्ञानी नहीं कहलाते हैं। उनके लिए 'मूढ़ जन' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। जिनमें समझ-बूझ की बाह्य रूप से कमी दिखाई पड़ती है वे 'मूढ़' कहलाते हैं। वे पशु स्तर से ऊपर नहीं उठे होते हैं। बाकी सभी—विद्वान, राजा, प्रजा, धनवान, मन्त्री, राजनीतिक, भाषाशास्त्री और तार्किक—अज्ञानी हैं। उनका वास स्थूल शरीर पर होता है और जीवन के सामान्य व्यवहार चालू रहते हैं। वे अपने को शारीरिक और मानसिक क्रिया-कलाप तक सीमित रखते हैं। वे शरीर और मन, विचारों और अनुभूतियों की पाबन्दियों एवं व्यवस्थाओं के के प्रभाव को सुदृढ़ करते रहते हैं और उन्हीं की समझ-बूझ की उलझन में पड़े रहते हैं। उनके लिए अज्ञानी शब्द बिल्कुल उपयुक्त है।

पुजारी, उपासक, तपस्वी और साधु आदि सभी 'अज्ञानी' हैं। उन्हें शरीर के उपासक, इच्छा के उपासक और अनेकता के उपासक कहते हैं। स्थूल शरीर का जगत अनेकता का क्षेत्र है। उनका ध्यान सदैव इसी पर टिका रहता है। यहाँ तक कि धार्मिक और तपस्वी भी सिवाय स्थूल शरीर, इच्छाओं के संसार के अतिरिक्त और किसी का ख्याल तक नहीं रखता। उनका स्वर्ग इन्द्रिय-भोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परियों और दासों के सुख का आनन्द लेना है। यदि स्वर्ग-प्राप्ति को ध्येय बनाते हैं तो समझ लेना चाहिये कि वह इसको भी संसार का सूक्ष्म रूप समझकर उसी की आकांक्षा को बल प्रदान करने में लगे रहते हैं। उसी प्रकार जो वैकुण्ठ की कामना करते हैं इसे एक सुख का स्थान मानते हैं। ऐसे लोग भी शरीर और इन्द्रियों से ऊपर देखने में सक्षम नहीं होते। यही कारण है कि जिन्हें कुछ ज्ञान और समझ है 'अज्ञानी' कहलाते हैं। वे ही 'अज्ञानी' कहलाते हैं जिनमें इस जगत व दूसरे जगत, लोक-परलोक की भावना घर किए रहती है। यह और दूसरा जगत एक ही है। दोनों ही बहुभावों के जगत हैं।

प्रथमतः धार्मिकों, साधुओं और ईश्वरभक्तों—इनमें से किसी को भी ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं है। दूसरे, उनका ईश्वर और कुछ नहीं, केवल एक महान् व्यक्ति की हैसियत रखता है। ऐसे लोगों की प्रार्थना पर ध्यान दीजिए। कोई उसे स्वामी, तानाशाह, न्यायाधीश, आदि से सम्बोधित करता है;

अन्य उसे दयालु, कृपालु और करुणामय आदि कहते हैं। ये सब मनुष्यों के ही गुण हैं। तीसरे, इन लोगों ने ईश्वर को उसकी आँखों से नहीं देखा बल्कि वह इनके लिए चाटुकारिता का विषय और इन्द्रिय जन्य इच्छाओं की पूर्ति का साधन रहा है। इसी चाटुकारिता को कुछ लोगों ने 'उपासना' और 'भक्ति' कहा है। यह एक विचारणीय विषय है। यह भक्तों की प्रार्थना है :—

"हे सृष्टिकर्ता! आप जगत को दयालुता देने वाले हैं। मुझे कार्य दें, मुझे धन का भण्डार दें, मुझे सुख और आनन्द दें, मुझे सम्मान दें। हे वैकुण्ठ के स्वामी! मैं आपके नाम का गान करूँगा। मुझे धर्म और अर्थ दें। मुझे जीवन में समुन्नति दें।"

यह मौलवी रूमी की प्रार्थना है :—

"जगत के लोग बिल्कुल काफिर, अन्धविश्वासी अविश्वसनीय हैं। वे अहर्निश प्रलापों और मूर्खों की बकझक में फँसे रहते हैं। यदि एक स्वार्थभाव में रत है तो दूसरा अबूबकर और अली में फँसा है।"

यह और इस प्रकार के लोग 'अज्ञानी' हैं और अनेकता के संसार में रत हैं। उन्हीं के लिए शुभ और अशुभ फल का सिद्धान्त है। उन्हीं के लिए धर्म कर्म का विधान है।

———

अध्याय ४

आध्यात्मिकता

मनुष्य तीन शरीरों से बना है और उसमें तीनों शरीरों का प्रभाव पाया जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर हैं।

सत्, रज और तम—इन तीन गुणों से बने होने के कारण उन्हें त्रिगुणात्मक कहते हैं। सामान्यतः तीनों गुण तीनों शरीर में सदैव पाये जाते हैं। परन्तु, उनकी विशेषता स्वभाव और प्रभाव का निर्धारण किसी एक गुण की प्रमुखता द्वारा होता है। इसलिए उनके नाम भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

तम स्थूल है, रज सूक्ष्म है और सत् कारण है। सत् का गुण शीर्ष पर होता है, रज का मध्य में और तम का तलहटी पर। स्थूल शरीर तम का गुण है क्योंकि उसके द्रव्य स्थूल और घने होते हैं।

कारण शरीर सत् का गुण है क्योंकि उसके द्रव्य परिष्कृत होते हैं। सूक्ष्म शरीर में घनत्व और परिष्कृति दोनों ही पायी जाती हैं इसलिए यह रज का गुण है। इसी कारण से मनुष्य तीन प्रकार की प्रवृत्ति वाले होते हैं :

(१) मूढ़ (२) चञ्चल और (३) अज्ञानी ।

(१) शरीर प्रवृत्त, शरीर की पूजा करने वाले, गाफिल (भूले हुए), असावधान या आलसी व्यक्तियों को मूढ़ कहते हैं। शरीर के पुजारियों के यद्यपि शरीर तो होते हैं परन्तु वे इसके बारे में कुछ नहीं जानते हैं। जो शरीरपरक है, अपना ध्यान सदैव शरीर पर ही रखता है, वह केवल चैतन्य धरातल का ही कार्य-कलाप करता है। चैतन्यावस्था में ध्यान केवल शरीर पर ही रहता है हालाँकि वह शरीर का प्रयोजन नहीं समझता। इस पार्थक्य बोध (पृथक अस्तित्व) के कारण ही वह मूढ़ है।

(२) शरीर के साथ मन के पुजारी--कठोर श्रम करने वाले, चिढ़ने वाले, बदला लेने की भावना वाले, सन्तुलित मस्तिष्क वाले, विचारपूर्ण और स्वार्थी व्यक्तियों को चञ्चल कहा जाता है। मन के पुजारियों के यद्यपि मन होता है परन्तु इसके सम्बन्ध में वे ज्ञान शून्य होते हैं। शरीर के साथ-साथ मन का पुजारी अपना ध्यान शरीर और मन दोनों पर रखता है। वह जाग्रत अवस्था और स्वप्न अवस्था के कार्यों को करता है। उसका ध्यान शरीर और मन पर क्रमशः जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में रहता है यद्यपि वह मन का प्रयोजन वास्तविक अर्थ में नहीं समझता। यह उसकी स्थिति होती है। चूँकि वह मन के संवेगों को नहीं समझता और न तो उस पर उसका नियन्त्रण होता है वह चंचल, बेचैन और विक्षुब्ध रहता है।

(३) शरीर और मन के साथ आत्मा के पुजारी—न्यायी, निःस्वार्थी, अहिंसक—ऐसे व्यक्ति अज्ञानी कहलाते हैं। आत्मा के पुजारियों को यद्यपि शरीर और मन की आवश्यकताओं के बारे में कुछ ज्ञान तो होता है परन्तु आत्मा रखते हुए और शान्ति एवं आनन्द की कामना करते हुए भी वे आत्मा की असलियत नहीं जानते। ऐसे लोग जब आध्यात्मिकता के बारे में पढ़ते, सोचते, और दूसरों को इस विषय पर बातचीत करते हुए सुनते हैं तो इस तरफ उन्मुख होते हैं फिर भी उनमें लापरवाही (बेखबरी) रहती है। क्योंकि इच्छाओं और कामनाओं से भरे हर व्यक्ति का वैसा ही स्वभाव होता है। इस प्रकार के व्यक्ति को अज्ञानी कहते हैं।

शरीर और मन के साथ आत्मा का पुजारी अपना ध्यान शरीर, मन और आत्मा पर रखता है यद्यपि उसे आत्मा का प्रयोजन नहीं मालूम होता है। वह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के कार्य करता है, और इन तीनों अवस्थाओं का कार्य करते हुए भी वह आत्मा की असलियत से अनभिज्ञ रहता है। इसलिए वह अज्ञानी है। उसकी स्थिति ऐसी ही है। 'शरीर प्रवृत्त, मन प्रवृत्त और आत्मा प्रवृत्त' शब्द अस्पष्ट (अमूर्त) शब्द हैं। इसके स्थान पर "शरीरधारी," 'मनधारी' और 'आत्माधारी' शब्दों का प्रयोग हो सकता है। स्थूलता, सूक्ष्मता और कारणरूपता की दृष्टि से तीनों आवरण सब में और सभी जीवों में पाये जाते हैं। सूक्ष्म मन मध्यस्थानीय है जो ऊपर

और नीचे से खबरें लाता है, और ला सकता है। परन्तु, चूँकि साधारण आदमी का मानसिक और बौद्धिक ध्यान का अभ्यास शरीर और मन पर ही रहता है वह इन्हीं धरातलों तक सीमित रहता है। अतः यद्यपि मन ऊँचा उठता है परन्तु वहाँ जाकर यह खो जाता है और एक अचेतन अवस्था में वापस लौट आता है क्योंकि वह यह नहीं जानता कि उस ऊँचाई पर वह किस प्रकार ठहरा रहे और उस अवस्था पर नियन्त्रण बनाये रखे। इसलिए ऐसा आदमी सुषुप्ति के बारे में शायद ही कुछ जानता हो, और, न तो आत्मा के बारे में ही जान सकता है। इच्छाओं में लिप्त हर व्यक्ति इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव दिन-रात चौबीसों घण्टे करता रहता है। परन्तु वह तीसरे आवरण आत्मा के बारे में नहीं जानता। पहले बीज होता है तब बृक्ष। चूँकि कारण शरीर बीज है, यह पहले आता है। आत्मा का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं है। आत्मा में सुस्थिरता, स्वस्थचित्तता, विश्राम और शान्ति है। बहुत से लोग इसे निश्चल समझते हैं फिर भी इसे ज्ञान कहते हैं। यह तो विचारों को व्यक्त करने की विधि की गलती है।

तम और सत् दोनों में गति नहीं है। गति केवल मध्य अवस्था रज में है। यदि यह है तो ऐसा क्यों कहा जाता है कि शरीर जो स्थूल और तमोगुणी है—का स्वभाव ही कर्म है। कर्म तो गति में है और तम अर्थात् मूढ़ (संज्ञाहीन) अवस्था में गति नहीं होनी चाहिए। कर्म और ज्ञान दोनों मन में होते हैं। वे

सूक्ष्म शरीर की विशेषताएँ हैं। वास्तव में कर्म, ज्ञान और इनका उद्देश्य 'सुख'—ये तीनों मन की विशेषताएँ हैं क्योंकि मन रजोगुणी है।

कर्म, ज्ञान, और आनन्द—ये तीनों माध्यमिक अवस्थायें हैं, और, वे मन की विशेषताएँ हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि कर्म निचली, आनन्द शीर्ष की और ज्ञान मध्य की अवस्था है। स्थूल शरीर निचली, कारण शरीर शीर्ष की और सूक्ष्म शरीर मध्य की अवस्था है। कर्म व्यक्त और बाह्य गति है। आनन्द शान्ति और स्थिरता है जबकि सोचना और समझना माध्यमिक स्थिति है।

जब दो वस्तुयें मिलती हैं तो एक तीसरी अवस्था पैदा होती है जिसमें सम्मिश्रण और संयोग होता है। यह सम्मिश्रण और संयोग मन की दशा है और मन में होता है। विवेक, ज्ञान, और फल का निर्णय (फलादेश), इसके द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

जहाँ केवल एक चीज है वहाँ कोई विचार की अभिप्रेरणा नहीं होती। वहाँ विवेक अर्थात् योग, बाकी, गुणा, या भाग का कोई अवसर भी नहीं होता है। एक में कैसा कर्म, कैसा आनन्द? जब दो होते हैं तभी उनके संयोग से एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है; साथ ही साथ यह और वह, तुम और मैं का विवेक भी। ग्रन्थि बीच में होती है और एक छोर एक सिरे पर और दूसरा दूसरे सिरे पर होता है। मन ही तो मध्य

की ग्रन्थि है जिसके एक सिरे पर चैतन्यता की उच्च अवस्था तथा दूसरे सिरे पर जड़ता की निम्न अवस्था है। मन दोनों की छाया और प्रभावों को लेकर चैतन्यता और जड़ता की ग्रन्थि बन जाता है और सोचने और समझने के लिए विवश हो जाता है। यह उसकी विशेषता है। यह कभी ऊपर जाता है, कभी नीचे, और कभी यह मध्य में स्थित रहता है। यह तीनों ही इसकी स्वाभाविक विशेषताएँ हैं।

सिर सबसे ऊपर है और पैर नीचे होते हैं। बीच में मन होता है जो दोनों को गति प्रदान करता है। सबसे ऊपर सत् होता है जबकि तम नीचे होता है। बीच में मन होता है जो दोनों ही को गति दे-देकर अपना कार्य करता रहता है।

पहली अवस्था कर्म की होती है, दूसरी ज्ञान की और तीसरी आनन्द की। तीनों अवस्थाओं में उसका दौरा होता है जिसका प्रतिफलन गति, समझ और स्थायित्व में होता है। गति कर्म है, समझना ज्ञान है और स्थायित्व आनन्द है। ज्ञान बीच की सम्मिश्रित अवस्था है। इसलिए वह व्यक्ति अज्ञानी, अविज्ञ है, जो मन और स्थूल शरीर की अनेकता के क्षेत्र में अनेकता के साथ रहता है और अपना कार्य विवेकपूर्ण ढंग से करता है तथा बुद्धिमान है। जो अनेकता में डूबा हुआ है, अज्ञानी है। जो एकत्व में लीन है ज्ञानी है और उसमें आध्यात्मिक प्रज्ञा रहती है। जो स्थूल शरीर और मन के द्वन्द्वात्मक क्षेत्रों में रहता है और अपने कार्य करता है और उसमें लीन रहता है या उनकी

ओर उसका झुकाव होता है, अज्ञानी है। जो स्थूल शरीर और मन के क्षेत्रों का त्याग कर अपने हृदय को कारण शरीर या आत्मा से संयुक्त करता है और उसके आनन्द, शान्ति, सुख और स्थायित्व में लीन हो जाता है या इनकी तरफ उसका झुकाव होता है, ज्ञानी होता है तथा उसमें आध्यात्मिक ज्ञान होता है।

न तो अज्ञानी और न ही ज्ञानी शरीर के क्षेत्र अथवा भौतिक धरातल से ऊपर उठा हुआ होता है। दोनों ही भौतिक अथवा शारीरिक धरातल पर होते हैं। उनमें अन्तर इतना ही है कि एक में अनेकत्व होता है और दूसरे में एकत्व। एक आत्मा में शान्ति और स्थायित्व की खोज करता है जबकि दूसरा शरीर, भौतिक अङ्ग-उपाङ्ग, और उनकी क्रियाशीलता में। दोनों में किसी को वास्तविक शान्ति और स्थायित्व का ज्ञान नहीं है; क्योंकि अज्ञानी कर्म और ज्ञान के द्वारा अनेकत्व से प्रेम करता है और एकत्व के क्षेत्र में प्रतिदिन प्रविष्ट होता है। और ज्ञानी एकत्व से प्रेम करता है और अनेकत्व के धरातल पर वापस आने के लिए विवश हो जाता है। ज्ञानी न तो शरीर का त्याग कर सकता है और न ही अज्ञानी को आत्मा के आनन्द से वञ्चित किया जा सकता है। दोनों एक ही प्रकार के हैं। दोनों ही को आवरण और परदा भ्रम और वहम ने दबोच रखा है। परन्तु, अवश्य ही, ज्ञानी की अवस्था, अज्ञानी की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि स्थूल शरीर अनेकत्व का क्षेत्र है जबकि आत्मा एकत्व का क्षेत्र है। अनेकत्व चैतन्य और जाग्रत अवस्था में है और

एकत्व सुषुप्ति और निद्रा में। दोनों ही शरीर हैं। ऐसा कोई भी अज्ञानी नहीं है जो जाग्रत अवस्था के कार्यों को करता हुआ सुषुप्ति में न जाता हो, और ऐसा कोई ज्ञानी नहीं है जो सदैव सुषुप्ति की अवस्था में रहते हुए जाग्रत अवस्था में वापस न आता हो। अभिप्राय यह है कि, संकुचन और प्रसारण, दोनों में पाया जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि जब अनेकत्व होता है तो एकत्व नहीं और इसके विपरीत जब एकत्व होता है तब अनेकत्व नहीं। परन्तु दोनों को वापस होना है। गोताखोर अपने श्वासों को रोकता है और कुछ समय तक पानी में रहता है। कुछ समय बाद पानी उसे ऊपर उछालकर बाहर फेंक देता है। दोनों ही गोता लगाते रहते हैं। हाँ, एक सतर्क है, दूसरा नहीं। अन्तर केवल अनेकत्व और एकत्व का है। यह अन्तर इस प्रकार का है कि अनेकत्व केवल शारीरिकता (भौतिकता) के क्षेत्रों में पाया जाता है। एक व्यक्ति का शरीर दूसरे व्यक्ति के शरीर की तरह नहीं होता। न तो एक की जाग्रत अवस्था या शारीरिक अवस्था दूसरे की इन अवस्थाओं के समान होती है। सभी पृथक् और अलग-अलग प्रकार के प्रतीत होते हैं। परन्तु सुषुप्ति की अवस्था में अर्थात् आत्मा की अवस्था में एकत्व की दशा होती है। वहाँ सभी एक समान हो जाते हैं। कोई चाहे राजा हो या साधारण आदमी, धनी या निर्धन, सम्राट या भिखारी—सभी वहाँ एक से हो जाते हैं। शरीर-प्रवृत्त व्यक्तियों का ध्यान शरीर पर तथा शरीर के अङ्ग उपाङ्गों आदि सब पर होता है। आत्मा में आध्यात्मिक व्यक्ति का ध्यान आत्मा पर

ही होता है। परन्तु वहाँ पर द्रष्टा, दृश्यमान और दृश्य की त्रिपुटी नहीं रहती। वहाँ जो कुछ भी है वह केवल एक और एक ही है जिसका ज्ञान भी इस हालत में नहीं रहता। अन्यथा द्वैत का दोष आ जाता है। शरीर में सब कुछ है—जड़, तना, शाखायें, पत्तियाँ, फूल, फल आदि। और फल के अन्दर कई आवरणों के नीचे बीज छिपे रहते हैं। आत्मा में केवल बीज ही बीज होता है। और, इस बीज के बाहर, ऊपर, जड़, तना, शाखायें, पत्तियाँ और फूल आदि ढँके, मुँदे, लिपटे और सिमटे रहते हैं। शरीर की अभिव्यक्ति और विकास आत्मा से होता रहता है और इसके विपरीत क्रिया भी उसी प्रकार होती रहती है, जिस प्रकार वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की उत्पत्ति की क्रिया निरन्तर होती रहती है।

अज्ञानी पत्तियाँ, फूल, फल आदि गिनता हुआ फल खाता या नहीं भी खाता है। जबकि ज्ञानी इन विस्तारों पर कोई ध्यान दिए बगैर केवल फल खाने में रुचि रखता है। अज्ञानी साक्षर और पण्डित होता है और यदि संयोग से कहीं भागवत, गीता पढ़ने को पा जाता है तो वह उसका परीक्षण करने लगता है और उसके रचयिता का पता लगाने लगता है, आदि, आदि।

वास्तव में, मन की तीन दशायें होती हैं। मूढ़, चञ्चल और अज्ञानी। यह तीन आवरणों के कारण हैं जो तीन शरीर हैं। पहला, अपनी इन्द्रियों और अङ्गों सहित स्थूल शरीर है जो तम, मूढ़ अर्थात् बाह्यरूप में गतिहीन और अन्धकारपूर्ण

है। दूसरा, आत्मा एक दूसरा शरीर है जिसे कारण शरीर कहते है। यह प्रकाश से भरा है पर इसमें भी गति नहीं है। यही अज्ञानी दशा का मूल कारण है। तीसरा शरीर सूक्ष्म शरीर या मन है जो इन दोनों के मध्य में रहता है। इसमें गति है जो अपनी गति से मूढ़ और अज्ञान अवस्थाओं को गति देता है।

तीन वृत्त हैं। पहला अज्ञान या आत्मा का वृत्त है जो प्रकाश से भरा है। इसमें भी ठोसता की दशा होती है। दूसरा वृत्त अत्यन्त अन्धकारपूर्ण है और इसे मूढ़ कहते हैं। तीसरा प्रकाशमान और अन्धकारमय दोनों है। ऊपर प्रकाश और नीचे अँधेरा है। इस पर प्रकाश और अन्धकार दोनों की छाया, प्रभाव, और छाप पड़ती है क्योंकि बीच की हालत में दोनों के प्रभावों का प्रतिबिम्बित होना नितान्त आवश्यक है।

प्रथम भाग प्रकाश है और दूसरा अँधेरापन; और मध्य में प्रकाश और अन्धकार दोनों का संयोग होता है। यह त्रिगुणात्मक सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड बिल्कुल उसी रूप का है और जितने भी जीव, जन्तु, मनुष्य, पशु, देवदूत, आकाश या पृथ्वी के शरीरधारी हैं सभी इसी प्रकार के असमान अनुपात में बने हुए हैं। यह एक चींटी या दीमक को भी देखने से ज्ञात हो जाएगा। उनके शरीर में तीनों वृत्त स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं।

यद्यपि 'सृष्टि' शब्द गलत है फिर भी यह हमारे अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए काफी है। इसके लिए ब्रह्माण्ड शब्द

प्रयुक्त होता है। यह तीनों अवस्थायें इसमें पायी जाती हैं। और, जो भी सत्ता या जीव जन्तु इसमें हैं वे सभी इसकी लघु प्रतियाँ हैं। उनके शरीरों या शरीर समुच्चय को पिण्ड कहते हैं। यह पिण्ड ब्रह्माण्ड की प्रति है। इसमें ब्रह्माण्ड के सारे गुण लघु रूप में पाये जाते हैं। जैसा कि चींटी या दीमक के उदाहरण में दिखलाया गया है। पहला प्रकाशमय वृत्त उत्तरी ध्रुव या उत्तराखण्ड है। दूसरा अन्धकारमय वृत्त दक्षिणी ध्रुव या दक्षिण खण्ड है। हिन्दू लोग मृत्यु के अतिरिक्त कभी भी अपने पैरों को दक्षिणी ध्रुव की ओर फैलाकर नहीं सोते हैं।

प्रकाशमान वृत्त अज्ञानी अर्थात् आध्यात्मिक व्यक्तियों से सम्बद्ध है; अन्धकारमय वृत्त मूढ़ अर्थात् भौतिकतावादी लोगों से सम्बद्ध है; और संयुक्त अवस्था का वृत्त जो बीच में रहता है, चंचल और मध्यवर्गीय व्यक्तियों से सम्बद्ध होता है। सबसे ऊपर आत्मा है और नीचे द्रव्य। मध्य में द्रव्य और आत्मा की संयुक्त अवस्था है जो मन है।

मन मिश्रित अवस्था के कारण ऊपर और नीचे दोनों के प्रभावों को प्राप्त करता रहता है जिससे उसमें गति आती रहती है। इसी गति के कारण इसे चञ्चल कहते हैं। मध्य में होने के कारण चूँकि यह मिश्रित अवस्था है इसमें सादृश्य, समानता और सामंजस्य पैदा करने का स्वाभाविक गुण होता है। अतः जब यह अपना मुख नीचे की ओर मोड़ता है तो वैसा

ही हो जाता है और चंचल होने के कारण उसमें मूढ़ता के साथ-साथ मूढ़ कर्म करने का प्रभाव आ जाता है। तब यह "कर्म-शील" कहलाता है और यह शरीरधारी ही रहता है।

उसी प्रकार जब यह अपना मुख अज्ञान के वृत्त अर्थात् आत्मा की ओर, जिसे कारणशरीर कहते हैं, घुमाता है तो उसमें आध्यात्मिकता आने लगती है और वह आध्यात्मिक बन जाता है। आत्मा में अज्ञान है इसलिए अज्ञान के साथ समानता, अनुकूलता और एकरूपता करने से वह अज्ञानी बन जाता है।

इस संसार के लोग आत्मा को अज्ञानी कहने से क्यों भयभीत होते रहते हैं? इस संसार में अभी तक बहुत से ज्ञानी, ध्यानी, ऋषि, मुनि, पैगम्बर, पीर, सन्त, महात्मा और भक्त हुए हैं। परन्तु उनमें से किसी ने कभी भी नहीं कहा कि आत्मा अज्ञानी है क्योंकि :

(१) पुरातन और लीक से विचलित होना अपनी जान खोना था। अब रह गयी उसकी अपनी हालत। उसके विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि चूँकि वह प्रकाश और अँधेरे की सम्मिलित अवस्था का योग है अतः जब अपने में स्थित होता है तो दोनों वृत्तों के प्रभावों के कारण गतिशील और चलायमान रहता है। इस विशिष्ट स्थिति में वह चञ्चल रहता है और चञ्चल कहलाता है।

(२) जो लोग कुछ नवीन कहना चाहते थे, कुप्रसिद्धि से भयभीत थे। वे समाज द्वारा दिये गये दण्ड के प्रति अधिक जागरूक थे। वे सामाजिक या धार्मिक क्षेत्रों से बाहर आने का साहस नहीं रखते थे। समुदाय, धर्म या समाज के निर्णयों के विपरीत चलना पाप माना जाता था।

(३) निश्चय ही, कहने को तो सबने कहा किन्तु किसी ने खुलकर नहीं कहा, किसी ने पर्दा नहीं हटाया। वास्तविकता के मुँह पर भेद और रहस्य का एक पर्दा डाल दिया गया था। यदि उन्होंने इस पर संकेत भी दिया तो केवल आन्तरिक क्षेत्रों में और एक सीमित समाज को। एक व्यक्ति जिसने इसे समझा उसका गुणगान किया, और, जिसने नहीं भी समझा उसने भी प्रशंसा प्राप्त की।

(४) उन लोगों ने इस प्रकार के अभ्यास और ध्यान की पद्धति चलायी जिससे आदमी का मन ऊँचा उठ सके और हृदय विशाल हो जाय। शुद्ध और पवित्र व्यक्तियों के साथ सम्पर्क आवश्यक माना गया। ऐसे अभ्यासों से ऐसा सम्भव है कि मनुष्य कुछ दिनों बाद अपने आप ही वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर सके। इन प्रयासों के अतिरिक्त वास्तविकता की ओर कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी। उन लोगों ने अपने अन्तःकरण की अभिव्यक्ति को केवल संकेतों, मुहावरों, चुटकुलों, सूक्तियों तक ही सीमित रखा; पर वास्तविकता को भय और शङ्का के रहते हुए नहीं जाना जा सकता है।

एक चीज को न जानना अज्ञान है। जानना मन का कार्य है, जो मध्य में है और एक मिश्रित अवस्था है। जहाँ मिश्रण और संयोग होता है वहाँ यह विभेदात्मक-वर्ग पैदा हो जाता है। जहाँ केवल एक ही वस्तु हो वहाँ चिन्तन-मनन की आवश्यकता और सम्भावना किस प्रकार हो सकती है? आत्मा और द्रव्य दोनों ही जानने के गुण से विहीन हैं। या, यदि उनमें यह गुण है भी, तो यह बीजरूप में है। मन ही इसका भेदन कर सकता है और उन्हें जानने में सक्षम है। आत्मा में एकत्व और स्थायित्व है जिसे यहाँ कारणशरीर कहते हैं। जब मन इसकी ओर झुकता है तो उसके असर को शोषित कर लेता है और उसी तरह का हो जाता है।

आप सुषुप्ति अवस्था (गहरी नींद) में नित्य जाते हैं। आपको वहाँ क्या खबर रहती है? कुछ भी नहीं। यह नित्य का अनुभव है। परन्तु सुषुप्ति से जाग्रत होने पर मन को अपने अस्तित्व का स्मरण हो जाता है। कारण यह है कि मन अपने विशिष्ट मिश्रित प्रभावों को छापों या संस्कारों के रूप में ग्रहण कर लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह आत्मा में लय हो जाता है पर वापसी पर उसका पता देता है। और वह पता है क्या? अचेतनता का भान, इन्द्रिय-विषय-स्पर्श का अभाव, बेहोशी का होश, और अज्ञान का ज्ञान! इसके अतिरिक्त वह और क्या कहता है? आप पूछिए और यह स्वयं ही आपको स्पष्ट करेगा। किसी का अपना व्यक्तिगत अनुभव, यद्यपि वह कोरा

ज्ञान होता है, फिर भी पुस्तकीय ज्ञान या चुने हुए ज्ञान से हजार गुना अच्छा होता है।

जब दो चीजें सम्मिलित होती हैं तो तीसरी दशा उत्पन्न होती है और फिर वही दोनों के द्वारा विवेक की सहायता से अपना कार्य करती है। यह तीनों चीजें स्पष्ट रूप से मन में कार्यरत पायी जाती हैं। परन्तु, यह तीनों चीजें आत्मा में बीज-रूप में अज्ञानावस्था में दबी पड़ी रहती हैं। यह तीनों चीजें एक ही प्रतीत होती हैं। भैंस का गोबर और गधे का मूत्र मिला दीजिये और धूप में रख दीजिए तो बिच्छू पैदा हो जाते हैं, जो गोबर खाना और मूत्र पीना आरम्भ कर देते हैं। मन भी वही कार्य करता है। वास्तव में जीव होने की विशेषता का सम्बन्ध मन से ही है। यदि मन न हो तो जीव कैसे हो सकता है? यह मन तीन प्रकार के शरीरों की मिश्रित अवस्था है। जब तक मन का अस्तित्व रहता है, जीव का भी अस्तित्व रहता है। परन्तु मन को जीव नहीं कहते हैं। आत्मा, मन और शरीर के संयोग को जीव कहते हैं। यदि आत्मा और शरीर न होते तो मन भी नहीं होता। इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसका अस्तित्व उनके संयोग से प्रकट होता है।

———

अध्याय ५

जीव और ब्रह्म

अन्धा मनुष्य एक अद्भुत दृश्य देखता है जिसका कोई अन्त नहीं। गूँगा अद्भुत वाणी बोलता है और वक्ता गूँगा हो जाता है।

मैंने कुछ नहीं देखा है फिर भी मैंने सभी कुछ देख लिया है! मैंने कुछ भी नहीं सुना है फिर भी मैंने सब कुछ सुन लिया है!

प्रकृति का नियम ऐसा ही है। यह रचना तीनों गुणों से बनी है। सत्, रज और तम।

तम में होना (भव), व्यक्तीकरण और अस्तित्व स्थितित्व (is-ness) है।

सत् में सिमटाव, गुप्ति, ह्रास और डुबाव (absorption) है। परन्तु इस गुप्ति और ह्रास को अनस्तित्व समझने की भूल कभी भी नहीं करनी चाहिए। अन्यथा यह भ्रमोत्पादक होगा। यह अस्तित्व की, केवल सिमटाव की एक दशा है। सिमटाव अथवा ह्रास अनस्तित्व नहीं है।

इस व्यक्तीकरण और सिमटाव होने और न होने, अस्तित्व और अनस्तित्व का साक्षी (देखने वाला) रज की मिश्रित अवस्था है जो सत् और तम की अथवा जड़ और चेतन की ग्रन्थि है।

तम द्रव्य है, सत् आत्मा है और रज मन (हृदय) है। यह दशा पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में है।

दोनों में एक ही तस्वीर है। जिस प्रकार हम अपने शरीर में जागने के समय उठते, और गहरी नींद में सिमटते और बीच की हालत में स्वप्न देखते हैं उसी प्रकार एक विराट् अस्तित्व है जो वही कार्य करता है और वैसा ही करने में संलग्न रहता है। ऋषि इस विराट् अस्तित्व को ब्रह्म कहते हैं। सूफियों ने इसे 'खुदाई अज़ीम' कहा है। दोनों में अन्तर शरीर, माप और प्रसारण का है। इसके लिए जीव शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए। जीव लघु सृष्टि मात्र है। विराट् अस्तित्व भी मन है—जड़ और चेतन की एक ग्रन्थि। लोग इसे स्पष्ट रूप से कहने में डरते हैं।

वह विराट् अस्तित्व, ब्रह्म (१) जड़ और चेतन की ग्रन्थि है। (२) सत्, तम और रज की मिश्रित अवस्था है। (३) यह हमारी तरह जागता है, सोता है तथा लय होता है। (४) यह हमारी तरह व्यवहार भी करता है। (५) निश्चय ही यह बड़ा है,

हम छोटे हैं। (६) यह असीम है, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्व-प्रसारित है; हम सीमित अल्पज्ञ, अल्पव्यापक और अल्प प्रसा-रित हैं। यही अन्तर है। हमारा नाम व्यष्टि आत्मा, जीव है; उसका नाम समष्टि आत्मा, ब्रह्म है। ऋषियों ने उसे यह नाम दिया क्योंकि वे इसका अर्थ अच्छी तरह समझते थे। एक क्षण के लिए ब्रह्म शब्द के अर्थ पर विचार कीजिए। बृहत्+मन अर्थात् बड़ा मन—वह जिसके पास बड़ा मन है, ब्रह्म है। सूफी लोग उसे इस नाम से नहीं जानते थे। चूँकि उन्हें दूसरा अच्छा शब्द नहीं मिला अतः उन लोगों ने इसे "खुदा-ए-इज़द" कहा। परन्तु उनमें भी संकेतों और चिह्नों को समझने के लिए मस्तिष्क था। यह केवल मन ही है जो चिन्तन कर सकता है। परन्तु ब्रह्म शब्द का अर्थ है बड़ा या वह जो वृद्धि प्राप्त करके बड़ा हो जाता है। समय के अन्तराल ने अर्थ में यह परिवर्तन ला दिया। अतः समष्टि मन ब्रह्म है और व्यष्टि मन जीव। वह स्वर्गीय मन है और यह पार्थिव मन। वह एक है और यह अनेक। वह सबका समुच्चय है और यह अलग-अलग टुकड़े-टुकड़े हुआ। जीव मूढ़ है, अज्ञानी है। जीव ज्ञानी भी है और चञ्चल भी रहता है। ब्रह्म मूढ़ है, अज्ञानी है, वह ज्ञानी और चञ्चल भी है। यदि ये गुण उसमें न होते तो वे जीव में भी नहीं पाये पाते।

ब्रह्म भी शरीरधारी होता है। जब ब्रह्म को समष्टि (ब्रह्माण्डी) मन कह दिया है तो मन तो स्वयं शरीर हो गया। यह शरीर के गुणों से रहित कैसे हो सकता है? आपका यह

भौतिक शरीर स्थूल शरीर है। द्रव्य (पदार्थ) की दृष्टि से यह अखिल सृष्टि या ब्रह्माण्ड, ब्रह्म का स्थूल शरीर है। आपका मन सूक्ष्म शरीर है। इस सृष्टि के समग्र विचारों के समुचय की ग्रन्थि, ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर है। यह आत्मा, ठहराव का वास्तविक स्थान, बीज, आपका कारणशरीर है। वह आधार जिस पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आधृत है, अथवा ब्रह्म में लयावस्था का बीज ब्रह्म का कारणशरीर है। यह दोनों के रूप हैं। उनके नाम भी अवश्य होंगे।

स्थूल शरीर से सम्बन्धित जीव को शास्त्रों में विश्व कहा गया है जिसका लाक्षणिक अर्थ पार्थिव होता है। सूक्ष्म शरीर या मन से सम्बन्धित जीव को शास्त्रों में तैजस कहा गया है जिसका लाक्षणिक अर्थ चञ्चल होता है। कारणशरीर या आत्मा से सम्बन्धित जीव को शास्त्रों में प्रज्ञा कहा गया है। जिसका अनुवाद मोटे तौर पर शान्ति हो सकता है। इस सन्दर्भ में प्रज्ञा का अर्थ ज्ञानी से नहीं है। आत्मा या कारणशरीर में ज्ञान नहीं होता। तीनों प्रकार के शरीरों से सम्बन्धित ये नाम जीव के हैं। अब ब्रह्म के नाम निम्नांकित हैं:

(१) स्थूल शरीर से सम्बन्धित ब्रह्म को शास्त्रों में विराट् कहा गया है। जिसका लक्षणार्थं "ऊँचा स्वर" हो सकता है।

(२) सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन से सम्बन्धित ब्रह्म को शास्त्रों में अव्याकृत या अन्तर्यामी कहा गया है। अन्तर्यामी का अर्थ "आन्तरिक यात्रा" है। अव्याकृत का अर्थ "अदृश्यकर्ता" है।

(३) कारणशरीर अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित ब्रह्म को शास्त्रों में हिरण्यगर्भ कहा गया है जिसका अर्थ होता है "शान्ति-पूर्वक या स्थायी रूप से सुनहले अण्डे के रूप में पड़ा रहना।" यहाँ भी प्रज्ञा या ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है।

जीवों के दृष्टिकोण से यह ब्रह्म के तीन शरीरों से सम्बन्धित नाम हैं। ब्रह्म (समष्टि मन) अखिल सृष्टि के हृदय को कहते हैं और आपके मन के सन्दर्भ में भी इन्हीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है।

अध्याय ६

अज्ञान और ज्ञान

(वेदों के अन्तिम भाग वेदान्त पर विचार)

जो ज्ञान का तात्पर्य जानना चाहता है वह अज्ञानी है। यदि उसमें इतनी समझदारी नहीं होती तो हम लोग उसे मूढ़ कहते न कि अज्ञानी। अज्ञानी का मतलब "ज्ञान या समझदारी से रहित" नहीं है अपितु इसका मतलब ज्ञान के तात्पर्य से रहित होना है। केवल ऐसा ही व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करने योग्य है। जैसे भूखे को रोटी प्राप्त करने का अधिकार है, प्यासे को पानी, रोगी को औषधि, उसी प्रकार अज्ञानी को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है जो वास्तव में ऐसे ही लोगों के लिए है। भूखा मनुष्य रोटी से वंचित होता है न कि उसके ज्ञान से। ज्ञान उसे अवश्य है। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य में ज्ञान तत्त्व तो रहता है परन्तु उसमें ज्ञान नहीं है।

ज्ञान मनन, चिन्तन, शुद्ध विवेचन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। वस्तुओं का अन्तर जानना, उनके बीच पृथकत्व की सीमा रेखा का निर्धारण करना, अलगाव या अन्तर के बिन्दुओं को स्थापित करना—यही ज्ञान है और यही

मन की विशिष्टता है। भेद करने की क्षमता का नाम विवेक और विचार है। जब मन दो भिन्न अवस्थाओं में रहता है तो उसमें विचारों का स्पन्दन होता है। विचार का स्थान मिश्रण और विभेदात्मक दशा के घेरे में ही है। अवश्य ही मन इस पर ही रहकर और इसी में रहकर चिन्तन करता है।

ज्ञानी मनुष्य का उद्देश्य केवल मनन, चिन्तन या विभेदीकरण मात्र नहीं है बल्कि कुछ और भी है। हर कार्य का कुछ न कुछ परिणाम अवश्य ही होता है। कोई ऐसा कार्य हो ही नहीं सकता जिसका कोई परिणाम या फल न हो। यदि एक विचारवान व्यक्ति केवल शब्द-जाल में फँसा हो और उसके परिणाम, फल का कोई लाभ न उठाता हो तो वह अज्ञानी है। यद्यपि निस्सन्देह, उसकी स्थिति अवश्य ही अज्ञानियों में श्रेष्ठ है परन्तु फिर भी वह ज्ञान के निकट होता हुआ भी उससे रहित है। हम ऐसे ज्ञान को वाचिक ज्ञान अर्थात् जबानी जमा-खर्च कहते हैं। वह अपने को पुस्तकों के अध्ययन, भाषणों के श्रवण, दूसरे के विचारों को ग्रहण करने तथा उन्हें उद्धृत करने तक ही सीमित रखता है। वह उन्हें तोते की तरह दुहराता है और उन्हें आत्मसात नहीं कर सकता। ऐसे ज्ञान को हम लोग वाचिक या मौखिक ज्ञान कहते हैं। परन्तु, उस व्यक्ति का ज्ञान जो ज्ञान के तात्पर्य को समझता है और अनुभव करके उसे आत्मसात कर लेता है और कुछ समय तक उस स्थिति पर स्थिर रहता है और व्यावहारिक जीवन में उतारता है—

वास्तविक अर्थ में ज्ञान कहलाता है। ज्ञान न तो आदर्श, पूर्णता या अन्तिम अवस्था है और न हो सकता है। ज्ञानी सदैव अधर में है अर्थात् दोनों के बीच लटकता रहता है। कभी इस ओर झुकता है तो कभी उस ओर। ऐसे लटकने की स्थिति वाले को मन की शान्ति नहीं मिलती। अपेक्षाकृत रूप में यह कहा जा सकता है कि वे मूढ़ जो कर्म में रत हैं और जो ज्ञान की वास्तविकता से अपरिचित हैं ऐसे व्यक्तियों से कहीं अच्छे हैं।

लोक, परलोक, और इनके सारे घटनाचक्र सभी नितान्त विस्मयकारक हैं। यह जगत् आश्चर्य का एक स्थान और नैतिक शिक्षा ग्रहण करने का भी स्थान है।

सत्सङ्ग का आकर्षण, लाभ और प्रयोजन मन को उदार (व्यापक) बनाना है जिससे प्रत्येक वस्तु का उचित महत्त्व उसके ही स्थान पर दर्शाते हुए और फिर एक सापेक्ष दृष्टिकोण देते हुए उद्देश्य या प्रयोजन तक पहुंचा जा सके। इस सब का अभिप्राय यह है कि ज्ञानी होना उद्देश्य की प्राप्ति का चरम बिन्दु नहीं है। ज्ञान सुख और आनन्द का चरम बिन्दु है।

अब एक प्रश्न उठता है। यदि ज्ञान उद्देश्य प्राप्ति में अन्तिम बिन्दु नहीं है बल्कि आनन्द और सुख की प्राप्ति का अन्तिम बिन्दु है तो क्या निर्बन्धन या मुक्ति आदर्श या उपलब्धि का उच्चतम बिन्दु है? यदि सुख ज्ञान से प्राप्त होता है तो यह ज्ञान का परिणाम है। उस हालत में ज्ञान उतना ही अच्छा

है जितना कर्म। शास्त्र यह घोषित करते हैं कि कर्म का शुभाशुभ फल अवश्य होता है और यदि ज्ञान का परिणाम सुख हुआ तो परिणामी होने के कारण ज्ञान भी कर्म की ही भाँति एक प्रकार की मजदूरी हो गया और कर्म से अधिक उसका महत्त्व नहीं रह गया। परन्तु कर्म को घोर अन्धकार जैसा वर्णन किया गया है और ज्ञान की भूरि भूरि प्रशंसा की गयी है। इसका उत्तर यही है कि वास्तव में कर्म और ज्ञान दोनों ही एक प्रकार की क्रिया ही हैं। कर्म शारीरिक क्रिया है और ज्ञान मानसिक। कर्म का मतलब करना और ज्ञान का मतलब जानना है। संस्कृत भाषा में ज्ञान शब्द का उच्चारण "ज्यान" (Jnan) है जो 'ज्ञा' (Jna) धातु से निकला है। हमारे साधारण बोलचाल में शब्द 'जानना' भी उसी धातु से निकला है।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि सुख, कर्म या ज्ञान का परिणाम है पर इसमें सन्देह नहीं कि इसके बारे में कुछ भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति इसलिए है कि हृदय का रहस्य पूरी तरह नहीं समझा जा सका। सुख अपने आप में वास्तविक अस्तित्व है। सत्य तो यह है कि केवल सुख का अस्तित्व है और बाकी सभी कुछ दुःख आदि भ्रम मात्र हैं। कुछ लोगों ने इस ज्ञान को आदर्श के रूप में स्वीकार कर लिया और चुप रहे जबकि दूसरे लोगों ने मुक्ति को उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया।

अब हमें ज्ञान और मुक्ति में अन्तर जानना चाहिए।

(१) ज्ञान जानने का नाम है और वह भी ऐसे जानने का कि जानते हुए भी जानी हुई वस्तु से ऐसा मिल जाय कि केवल 'जानना' ही शेष रह जाता है। इसे एक प्रकार का 'तदाकार' कह सकते हैं।

(२) मुक्ति का अर्थ छुटकारा पाना होता है। बन्धन से छुटकारा पाना ही मुक्ति कहलाता है। यह दोनों अवस्थायें मन से सम्बन्धित हैं। केवल मन ही अनुभव करता है। मन ही बन्धन और मुक्ति को स्वीकार और महसूस करता है। यह जानना और महसूस करना ज्ञान है। जब मन अपने को अज्ञानी समझकर जानने को उत्सुक रहता है तथा जानने पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है और जान जाता है तो इसे ज्ञान कहते हैं। उसी प्रकार जब मन एक स्थिति को दुःखदायी मानकर विक्षुब्ध हो जाता है तो उसे बन्धन कहते हैं। और जब यह अपने को उससे छुटकारा पाने का प्रयास करता हुआ उस पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है तो यह मुक्ति है। जिस प्रकार ज्ञान और अज्ञान मन की अवस्थायें हैं उसी प्रकार मुक्ति और बन्धन भी हैं। दोनों काल्पनिक और मानसिक स्वीकृतियाँ हैं। इस प्रकार जब—

(१) यह शरीर के साथ मजबूत मानसिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो मूढ़ हो जाता है।

(२) यह शरीर में एक विशेष सम्बन्ध से कार्य करता है तो अज्ञानी और चञ्चल हो जाता है।

(३) यह विवेक और प्रज्ञा से भौतिक और सांसारिक मामलों में कार्य करता है तो प्रज्ञावान कहलाता है। यद्यपि इसे सभी चीजों का ज्ञान होता है परन्तु स्वयं अपने विशेष ज्ञान से रिक्त होने के कारण इसे अज्ञानी कहते हैं।

(४) और जब अनुभव के प्रसार के कारण यह इस संसार के बन्धनों को ढीला करने लगता है, आत्मा से सम्बन्ध स्थापित करने लगता है, इहलोक, परलोक, पृथ्वी और स्वर्ग आदि के विचारों की कुलांचे भरने लगता है तो यह ज्ञानी कहलाता है। तब यह दोनों के प्रति समान रूप से व्यवहार करने लगता है। किसी के गहरे असर को अपने पर नियन्त्रण प्राप्त नहीं करने देता मानों तुला के दोनों पलड़ों को बराबर रखता है। जिसने मन को समझ लिया उसने आत्मा को समझ लिया और अन्य हर वस्तु को समझ लिया।

जब कभी कोई आदर्श होता है तो यह पूर्णतया मानसिक होता है और केवल मन से सम्बन्धित रहता है। सोचने और समझने, स्वीकार और विश्वास करने की क्षमता का सम्बन्ध मन से ही है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ मन भ्रमण न करता हो। मन के लिए अगणित घाट, क्षेत्रीय विभाग और कार्य-स्थल हैं। यहाँ पर विशेष रूप से उनमें से केवल तीन घाटों का ही जिक्र किया जायेगा। इन स्थानों को मनरूपी पुस्तक के तीन अध्याय भी कहा जा सकता है।

अध्याय को कपाट और दरवाजा भी कहा जाता है और यही घाट का भी अर्थ है। मन के तीन भिन्न कपाट हैं: निचला, मध्य और उच्चतर अथवा भौतिक, अर्थात् स्थूल शरीर, मानसिक अर्थात् सूक्ष्म शरीर, और आत्मिक या कारण-शरीर।

✓पहला कपाट स्थूल शरीर है जो मनरूपी पुस्तक का प्रारम्भ है। दूसरा कपाट मन है जो मध्य में है। तीसरा कपाट आत्मा है जो उच्चतर है।

स्थूल शरीर द्रव्य की वह अवस्था है जिसमें जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता रहता है। मन अथवा सूक्ष्म शरीर द्रव्य की वह अवस्था है जिसमें परिवर्तन के साथ स्थायित्व भी है। आत्मा या कारणशरीर द्रव्य की वह अवस्था है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व, शान्ति और स्थिरता है। ये मन के अध्याय हैं।

जब मन स्थूल शरीर पर ही स्थित होता है तब वह अपेक्षाकृत अधिक अनुभव करता है क्योंकि अनेकत्व के संसार में श्रेष्ठतर और उच्चतर चीजों का अनुभव किये रहने पर उसे केवल दुःख का अनुभव होता है। इसे स्पर्धा, घृणा, शत्रुता, सुन्दरतर स्थिति एवं प्रगति की भावनाओं की वृद्धि एवं विकास के लिये सामग्री मिलती है। जब मन अपने ही क्षेत्र

या अपने ही स्थान पर स्थित होता है तो इसे चिन्तन, ध्यान, निष्कर्ष निकालने का निर्णय करने और फिर उस निर्णय विशेष पर टिकने का अवसर मिलता है।

ऋषियों ने इसे चार रूप दिये हैं :

चित्त – चिन्तन संकाय (मन पर विचार का झटका लगना)

मानस—मनन करने का यन्त्र।

बुद्धि—निर्णय करने का यन्त्र।

अहंकार—निर्णय पर टिकना; मैं-पन या अहं।

मन की स्थिति मध्य में होती है जहाँ पर सुख और दुःख की मिश्रित अवस्था होती है। जब मन इन दो अवस्थाओं के ऊपर उठता है, आत्मा या कारणशरीर में पहुँचता है तो यह शान्ति, स्थायित्व और निश्चिन्त-सुख प्राप्त करता है। यह मन के तीन भाग हैं।

इस मन की ५ दशायें होती हैं यथा—मूढ़ता, चञ्चलता, अज्ञानता, ज्ञान, शान्ति और सुख।

आपके इस शरीर में निचला हिस्सा मूढ़ावस्था का है। यह गले से प्रारम्भ होता है और ऊपर और नीचे दोनों क्षेत्र को समाहित करता है। चञ्चल मन का क्षेत्र विशेषतः हृदय-चक्र में पाया जाता है। अज्ञानी का क्षेत्र हृदय, गला और आँखों तक या सूक्ष्म अङ्गों तक होता है। ज्ञानी का क्षेत्र न केवल

हृदय, गर्दन, आंखें और मस्तक हैं बल्कि यह सिर से तलवे तक होता है। शान्ति और आनन्द का क्षेत्र आँखों से ऊपर और भी उच्चतर क्षेत्रों तक है। वह कभी नीचे नहीं देखता और केवल ऊँचे धरातल पर सुरक्षित रूप से स्थिर रहता है। अन्तर केवल इतना है कि शीर्ष-अधिष्ठान, पर होने के कारण निचली अवस्थाओं या क्षेत्रों को जो उस पर निर्भर रहते हैं शक्ति प्रदान करता है। परन्तु वह इनसे पूर्णतया स्वतन्त्र रहता है।

निचले क्षेत्रों में मन मूढ़ावस्था में रहता है। मध्य धरातल में यह चंचल रहता है। इस चंचलता के बढ़ने पर इसमें अज्ञान और ज्ञान की अवस्थायें उत्पन्न हो जाती हैं। उच्चतर धरातलों पर पहुँचकर यह स्थायी और शान्त हो जाता है। तब कोई इसे मूढ़ या चंचल, अज्ञानी या ज्ञानी नहीं कहता। इन दशाओं की अनुभूति इसके इन तीन धरातलों पर स्थिर होने पर होती है। यह उनके प्रभाव को अपना लेता है और उसी प्रकार का हो जाता है।

मूढ़ का अर्थ निश्चलता नहीं है बल्कि इसका अर्थ है काहिल या मन्द, जिसमें बुद्धि या विवेक न हो। ऐसा आदमी कार्य करता है परन्तु न तो उसे और न उसके परिणाम को ही जानता है। वह इसके सम्बन्ध में न तो कुछ कह सकता है, न व्यक्त कर सकता है। मूढ़ जगत के कार्य का क्षेत्र एवं वृत्त बहुत विस्तृत है।

चंचल का अर्थ चलायमान है—वह जो बेचैन है और हिचकिचाता है, इधर-उधर और अगर-मगर में पड़ा रहता है। उसमें मूढ़ता निस्सन्देह है परन्तु उस मूढ़ता में एक नवीन दशा ऐसी पैदा हो गयी है कि वह हिचकिचाता रहता है। उसमें शीघ्र निर्णय लेने की दृढ़ता का अभाव है। मूढ़ बिना किसी हिचकिचाहट के कार्य करता है; पर चञ्चल व्यक्ति सदैव हिचकिचाता है। इन दोनों में यही अन्तर है। चञ्चल व्यक्ति अपनी अत्यधिक हिचकिचाहट की आदत के कारण अज्ञानी हो जाता है। उसे निचले क्षेत्रों की कार्य विधि का पर्याप्त अनुभव होता है। वह कुछ विशेषतर विवेक पैदा कर लेता है जिससे वह जानता है कि अमुक-अमुक कार्य अमुक-अमुक फल देते हैं। यही विचार उसके लिए शुभ और अशुभ फल का अधिकार प्रदान कर देता है। और जब वह शुभ अशुभ फल भोगते-भोगते अनुभव की प्रौढ़ता प्राप्त कर लेता है तो उसमें ज्ञान का उदय होने लगता है। इस ज्ञान और प्रज्ञा की सहायता से वह निचले, मध्य और ऊँचे क्षेत्रों की यात्रा करता है और उनके कर्मों के कारण एवं परिणामों के ज्ञान पर स्वामित्व प्राप्त कर लेता है, और समत्व का मार्ग अपनाकर वह अपने आपको सँभाल लेता है। उसका कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होता है।

शान्त और स्थिर ठहरे हुए को कहते हैं। शान्त, आनन्द-मय शुद्ध असलियत का नाम है। इसका संस्कृत मूल "शम"

है जिसका अर्थ ही शान्ति और स्थिरता है। यह मन की ऊर्ध्व-मुखी दशा है।

उदाहरणार्थ आप भोजन करते हैं। यदि आप मूढ़ हैं तो आप जानवर की भाँति भोजन पर, परिणाम की परवाह किये बगैर, टूट पड़ते हैं जैसा कि कुत्ते, बिल्ली करते हैं। परन्तु मनुष्यता की हालत में यह दशा नहीं होगी। आप स्वाद के साथ भोजन करने की अवस्था का ज्ञान रखेंगे जो ज्ञान विशेष-कर केवल जिह्वा, दाँत और गर्दन तक सीमित है। ज्यों ही भोजन गले के नीचे जाता है फिर आपको इसके बारे में कोई ज्ञान नहीं होगा। यह ज्ञान मन के मध्यावस्था की विशेषता है जो अवस्था ज्ञान और अज्ञान की सम्मिलित ग्रन्थि है। उसी को जड़-चेतन की ग्रन्थि कहते हैं। अब आप मूढ़ता के क्षेत्र की ओर ध्यान दीजिये। भोजन कर लिया गया है। वह पेट में चला गया है जो इसे अज्ञानता के नियम के प्रभाव के अन्तर्गत पचाता है। यह इसको वसा, मल, मूत्र, रक्त, बीज, धातु, व्यक्तित्व के ओजस् आदि में परिवर्तित कर देता है और आपादमस्तक इसका प्रसारण कर देता है। परन्तु न कोई बता सकता है और न जानता ही है कि यह सब कैसे होता है। हालाँकि यह आपका निचला मन और स्वयं आप हैं, अन्य कोई नहीं, जो यह सब करते हैं। परन्तु अज्ञानता और असजगता बनी रहती है। उसी को मूढ़-कर्म या मूढ़-गति कहते हैं। यह एक विस्तृत क्षेत्र में फैला होता है। मध्य या मानसिक क्षेत्र के

बारे में पहले ही कुछ संकेत किया जा चुका है। भोजन करने में स्वाद-सुख तथा कम और अधिक का ज्ञान रहता है, जो सीमित है। यह इसकी पहली दशा है। इसका विकास होने पर यह अज्ञानी हो जाता है जिस दशा में यह स्थूल शरीर की दशाओं और घटनाओं के बारे में चैतन्य रहता है परन्तु स्वयं अपने आपको नहीं जानता। जब अपने गहन अनुभव के कारण यह प्रगति कर जाता है तो यह ज्ञानी हो जाता है और समझ-बूझ बढ़ जाती है फिर भी यह बहुत व्यापक या विस्तृत नहीं रहती है। इसके बाद जब यह मन ज्ञानी होकर शान्त हो जाता है तो इसे आनन्द की उपलब्धि होती है। और, यदि इस शान्ति और स्थायित्व की दशा में उद्दीपन कर दिया जाय तो एक प्रकार की अति-चैतन्य अवस्था पैदा हो जाती है जिसमें यह अज्ञात वस्तुओं को भी बता सकता है। मन के ये तीन रूप केवल इसकी अनेक अवस्थाओं के प्रभावों के कारण होते हैं जिन्हें विश्रामस्थान (मन के घाट) कहते हैं।

उच्चतर-चैतन्यता या प्रज्ञा-चक्षुषा ज्ञानी की एक विशेषता है। ज्ञानी के अतिरिक्त और किसी को अति चैतन्यता का धारक नहीं कहा जा सकता। परन्तु केवल वही ज्ञानी है जो आत्मा या कारणशरीर में, जो आनन्दमय है, रहता है। सूक्ष्म-तम शास्त्र इसे तुरीय कहते हैं। तुरीय का वास्तविक अर्थ थोड़े ही लोग जानते हैं। ये संस्कृत के प्रसिद्ध शब्द 'चतुर्' से निकला है जिसका अर्थ 'चार' (चतुः) होता है। शब्द को सभी जानते

हैं पर इसका अर्थ नहीं। यह तुरीय चौथी अवस्था है जो सत् (अस्तित्व), चित् (ज्ञान) और आनन्द के ऊपर की अवस्था है। अभी तक मन की केवल तीन अवस्थाओं का विवेचन हुआ है। चौथे का विवेचन बाद में किया जाएगा।

सत्, चित् और आनन्द भी शारीरिक हैं। यह स्थूल शरीर जिसे देखा जाता है तथा जिसके अस्तित्व को जाना जा सकता है, सत् है। इसके अस्तित्व को रूप, श्रवण, गन्ध, स्पर्श और रस के ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है। इसके अस्तित्व को जानने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अब आप सोच सकते हैं कि यह आपके स्थूल शरीर के बारे में है या नहीं ? यदि हाँ, तो इसका तात्पर्य यह है कि आप इसके अस्तित्व को स्वीकार कर रहे हैं, और इसे अस्वीकार करना ज़िद होगा क्योंकि यह इन्द्रियों के प्रत्यक्ष ज्ञान से बिल्कुल स्पष्ट होगा।

चैतन्यता या चित्त सूक्ष्म शरीर है और आनन्द आन्तरिक या कारणशरीर है। जिसका विचार किया जाता है और जो विचार में आता है, जो विचार द्वारा जाना और समझा जा सकता है, जो अपने ज्ञान की अवस्था समझ, मनन और विवेक द्वारा व्यक्त करता है, जिसकी चिन्तनात्मक विधि अन्वेषणात्मक काट-छाँट, बौद्धिक प्रयास और मानसिक समझ, विचारशील और अनुभव करने वाले बुद्धिमान व्यक्तियों के मन पर

बहुत अच्छा प्रभाव पैदा करती हों, जो अन्वेषणात्मक मस्तिष्क रखते हों, शीघ्र ग्रहण करने वाली समझ रखते हों और विवेक तथा दूरदर्शी बुद्धि द्वारा अपने आपको व्यक्त कर सकते हों— यह मन अर्थात् शरीर की क्षमता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? इस मन के अस्तित्व को अस्वीकार करना मात्र जिद्द है। यह अनुमान सिद्ध है, अर्थात् कल्पना, विचार और बुद्धि-सम्बन्धी ज्ञान द्वारा प्रमाणित है।

आनन्द अन्तरतम का आन्तरिक शरीर, कारणशरीर या आत्मा है। यह आनन्द शब्द संस्कृत धातु "नन्द्" से निकला है जिसका अर्थ होता है "प्रसन्न होना" या "प्रसन्नता प्रदान करना"। जिसका संयोग सुख देता हो, जिसमें लेशमात्र भी दुःख न हो, जो निर्भरता, निर्धनता, कमी, अयोग्यता के दोष से रहित हो—आनन्द है। कारणशरीर के अतिरिक्त इसे और क्या कहा जा सकता है ? इसका सुखरूप होना शब्दसिद्ध है अर्थात गवाही से इसका ज्ञान स्वयं अपने आपको होता है। अब प्रश्न है—किसकी गवाही ली जाय ? उत्तर है, शब्द ही से। इसके अतिरिक्त और किसी की गवाही कैसी ? आपके पास यह स्थूल शरीर है जो स्वयं आपके अस्तित्व का व्यक्त रूप एवं स्वीकृति है। आप भी इसको जानते हैं। यदि आपका शरीर न होता तो आप अपने को नहीं जान सकते थे और न तो दूसरे आपके अस्तित्व को जान पाते।

अध्याय ७

सत्, चित् और आनन्द

सच्चिदानन्द

यह सत्य है कि चैतन्यावस्था में अस्तित्व, ज्ञान, और आनन्द तीनों ही रहते हैं; और उनके गुँथे रहने का भान भी होता है। कारण यह है : (अ) ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो तीनों शरीरों का संयोग न हो। हृदय बीच में होने के कारण ऊपर, नीचे, अपने क्षेत्र के प्रभावों को लिये हुये कार्य करता है जो इसकी विशेषता है। (ब) यह देखा जाता है कि साँस बाहर जाती है, भीतर आती है और ठहरती है। यह रेचक (स्वाँस का बाहर निकलना), पूरक (स्वाँस का अन्दर आना) और कुम्भक (ठहराव, अनुलम्बन) हर दशा में प्रतिक्षण होते रहते हैं। यह तीन शरीरों के परस्पर-जुटे होने के कारण है। ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि स्वप्नावस्था में जागृति नहीं होती और जाग्रतावस्था में सुषुप्ति नहीं होती। न तो ऐसा सोचना चाहिए कि सुषुप्ति में जागृति या स्वप्नावस्था नहीं होती है। परन्तु, हर व्यक्ति इसे नहीं जान सकता। केवल वे ही जान सकते हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से समुन्नत हैं। मन अधिकांशतः अपने वैचारिक कार्यों की विशेषता

द्वारा जाना जाता है और आत्मा शान्ति और सुख द्वारा। अन्यथा तीनों का प्रभाव इन तीनों में पाया जाता है। यही कारण है कि कर्म, ज्ञान और आनन्द सभी क्षेत्रों में साथ-साथ कार्य करते हैं। यह अवश्य है कि अपनी विशिष्टता और अधिकता के दृष्टिकोण से पृथक् प्रतीत होते हैं ।

स्थूल शरीर की विशेषता यह है कि इसमें मूढ़ता के साथ कर्म होता है। सूक्ष्म शरीर अर्थात् हृदय (मन) की विशेषता कर्म, अज्ञान और ज्ञान है—उच्चतर अवस्थाओं में केवल ज्ञान है। कारणशरीर की विशेषता शान्ति और स्थिरता है। शान्ति और स्थिरता सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब मन उस अवस्था पर स्थिर होता है या वास करता है तो यह वही रूप धारण कर लेता है, और शान्त और प्रसन्न हो जाता है। इसका यह स्थिरीकरण उपासना कहलाता है। हृदय आत्मा के साथ यही कार्य करता है। जो प्राप्त वस्तु को अप्राप्त मानता है और उसे प्राप्त करने के लिए व्यग्र रहता है उसको ध्यान व कर्म की व्यवस्थाओं से गुजरना ही होगा। जो एक चीज को पूर्व प्राप्त समझता है, उसे इनकी क्या आवश्यकता ? उदाहरणार्थ, सोने का कंगन कलाई के ऊपर खिसक जाने से धारक का भ्रमवश यह समझना कि वे चोरी हो गये ! इस प्रकार की खोज कर्म और ध्यान कहलाता है जो भ्रमित मन के लिए परम आवश्यक है। निकट बैठने वाला और आसन लगाने वाला मन ही है। मन शीघ्र ही उसी वस्तु का रूप धारण कर लेता है

जिस पर वह स्थिर होता है। मन, हाथ, पाँव, नेत्र, नासिका, कर्ण—ये सभी मन के आवास हैं, स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की तो बात ही क्या ! यह इन सब पर स्थित होता है और उपासना करता है। यह मन ही है जो अपनी वृत्ति (धार) से बाह्य वस्तुओं और दृश्यों पर बैठता है और तीनों प्रकार के सुखों का आनन्द लेता है। उदाहरण के लिए आँखों के सामने एक मेज है। मन की धार आँखों के द्वारा बहती है और मेज को उसी प्रकार परिवेष्टित कर लेती है जिस प्रकार नहर का पानी नहर से निकल कर क्यारी में जाकर उसी का रूप धारण कर लेता है।

कर्म, ज्ञान और आनन्द सुख के तीन रूप हैं। आँखों से बहती हुई धारा एक वस्तु को देखती है और उस पर सतत गिरती है। यह कर्म है। आँखे अपने कर्म (वृत्ति) के कारण उसे घेर लेती हैं और उसका स्वरूप धारण कर उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करती हैं। यह ज्ञान है। वही आँखे बाह्य चीजों पर स्थिर हो जाती हैं और उनका आनन्द उठाती हैं। यह आनन्द है। इस प्रकार कर्म, ज्ञान, और आनन्द जो सच्चिदानन्द के गुण हैं किसी न किसी तरह साथ-साथ चलते हैं। व्यवहार विचार और परमार्थ में तीनों एक समान हैं। यहाँ तक कि नर-नारी के संयोग में भी वही त्रिगुणात्मक सिद्धान्त विद्यमान है।

कर्म की उपासना में प्रारम्भिक और मूढ़ता की गति होती

है। मन इस पर देर तक स्थिर नहीं रह सकता है। ज्ञान की उपासना ऊपर और नीचे के सोच विचार की गति है। यहाँ भी मन बहुत समय तक नहीं टिक सकता। यह मध्य आसन है। परन्तु यह दृढ़तापूर्वक अन्तिम अवस्था में स्थिर होता है और इसीलिए उसमें सुख है। यही कारण है कि सुख की इस अवस्था को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है।

किसी की बातों को सुनना कर्म है। उन पर विचार कर आपत्ति और संदेह व्यक्त करना ज्ञान है। यदि मन उन बातों की वास्तविकता अथवा सारतत्त्व पर स्थिर हो जाता है तो यह उपासना है, जो सुख प्रदान करती है। इन्हें शास्त्रों में श्रवण, मनन, और निदिध्यासन कहा गया है। निदिध्यासन शब्द का अर्थ "ध्यान में बैठना" है। (नि=पहले, धि=ध्यान करना, आसन=बैठना)।

ज्ञान में निःसन्देह प्रकाश है, परन्तु यह अपने आप में उद्देश्य नहीं है बल्कि उद्देश्य की पूर्णता का साधन मात्र है। हम लोग रात्रि में दीप, दीप के लिये नहीं जलाते हैं वरन् उसके प्रकाश में कोई कार्य करने के लिये, जो उद्देश्य या साध्य है। उसी प्रकार हमारे ज्ञान का भी कुछ उद्देश्य होता है। वह अपने आप में उद्देश्य नहीं है।

किन्तु अभी तक यही सुनते चले आये हैं कि ज्ञान ही परम उद्देश्य है और वेदान्त भी यही कहता है। यह नहीं मालूम कि

उपासना को आनन्द क्यों कहा जाता है। क्योंकि सामीप्य और साथ बैठने का भी तो कोई उद्देश्य होना चाहिए। अतः यदि उसका कोई उद्देश्य है तो ज्ञान ही हो सकता है।

Imp. सच्चिदानन्द पद में केवल तीन शब्द हैं सत्, चित् और आनन्द। सत् कर्म है। चित् ज्ञान है, और आनन्द अन्तिम अवस्था है। परन्तु, यदि उपासना को आनन्द नहीं माना जाता है तो सच्चिदानन्द शब्दावली में किसी और शब्द को मिलाना पड़ेगा जिससे चरम उद्देश्य स्पष्ट किया जा सके। परन्तु यदि ऐसा किया जाता है तो प्राचीन शब्दावली सदोष, गलत, और अपूर्ण सिद्ध होती है। और उस चौथे शब्द का फिर कोई उद्देश्य मानना पड़ेगा। इससे अनवस्था दोष (कभी न समाप्त होने वाला क्रम) पैदा हो जायेगा। फिर तो वास्तविकता पर पहुँचना असंभव हो ज़ायेगा। अतः उपासना या सत्सङ्ग संयोजन (मिलाप) है। यह संयोजन ही उद्देश्य है और यह आनन्द, प्रसन्नता और मस्ती की अवस्था है वल्कि स्वयं आनन्द ही प्रसन्नता और मस्ती है। यहाँ वेदान्त का अर्थ समझने की आवश्यकता है।

वेद (ज्ञान) का अन्त (अन्तिम सीमा) प्रसन्नता है और आनन्द है। शास्त्रों का कहना है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य दुःख का पूर्णतया अन्त कर देना और उच्चतम कोटि का सुख प्राप्त कर लेना है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद अर्थात् ज्ञान अपने आप में साध्य (उद्देश्य) नहीं है बल्कि उस वेद (ज्ञान) का अन्त या उद्देश्य सुख और आनन्द है।

कर्म में भी सुख है । परन्तु सुख-सुख में भी अन्तर है । आनन्द आनन्द में भेद होता है । शब्द "परमानन्द" या "उच्चतम आनन्द" का प्रयोग इसी सूक्ष्म अन्तर को विचार में रखकर किया गया है । वह "उच्चतम आनन्द" जिसे मैं सदैव उपासना कहता रहा हूँ, संयोजन, मिलाप, सम्मिलन या सत्सङ्ग है । यह शब्द निस्सन्देह मिलाप या योग के अर्थ में भली प्रकार प्रयोग किया जा सकता है । परन्तु, उपासना का लाक्षणिक और पारिभाषिक अर्थ पूजा और ध्यान या मनन माना गया है । इसलिए मिलाप (योग) के स्थान पर उपासना शब्द का प्रयोग पर्याप्त समझा गया ।

यह आनन्द या परमानन्द उपासना है बशर्ते कि उसकी वास्तविकता या सच्चा उद्देश्य प्राप्त कर लिया जाय । और उसी कारण से उपासना को ज्ञान से श्रेष्ठ माना गया है ।

ऐसा लगता है कि अभी तक आत्मा को आधार माना गया था परन्तु अब यह सिद्ध हो गया कि यह व्यक्तिगत मन या शरीर का हृदय है । इसकी दो विशेषताएँ हैं : अथ – गतिशीलता, और मन—चिन्तन या मनन । मन का अस्तित्व इन विशेषताओं के कारण है । राग द्वेष, इच्छा, सुख, ज्ञान और प्रयास—ये सभी इसकी विशेषताएँ हैं । ब्रह्म का अर्थ है बृह – वृद्धि करना, प्रयास करना; और मन – चिन्तन करना या मनन करना । अत. यह ब्रह्माण्डी (cosmic) मन है । अतः इसमें भी शारीरिकता है जो

मात्र एक आवरण है। संस्कृत में शरीर को देह कहते हैं जो "दिह" से निकला है जिसका अर्थ "संयुक्त" (एकत्र किया हुआ) है। तीनों शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण इसी प्रकार के हैं। स्थूल शरीर, स्थूल परमाणुओं का संयोग है, जो व्यक्त है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म परमाणुओं का संयोग है जो बाहर और भीतर दोनों के बीच में है। उसी प्रकार कारण शरीर कारण परमाणुओं का संयोग है जो आन्तरिक या अव्यक्त है। इसे आत्मा कहते हैं। आत्मा वास्तविकता या सत्त्व का नाम है। चूँकि मानव अव-धारण इन्हीं तीन तक सीमित है और वह उन्हें उसी रूप में नहीं समझ सकता जिसमें वे हैं और चूँकि उनका भ्रम मिटाया नहीं जा सकता इसीलिए इन पदों की व्याख्या बराबर की जाती है। ऋषि, मुनि 'नेति' 'नेति' अर्थात् "न वह यह, न वह यह है" कहते हैं। यह "नास्ति" का अनुवाद है। इसके बाद जो कुछ कहा जाता है वह मात्र सुझाव, संकेत या इशारा है। परन्तु, बहुत कम लोग संकेत समझ सकते हैं। जिसकी लोग आकांक्षा करते हैं या जिसे मन ढूँढ़ता है वह न तो ईश्वर है, न ब्रह्म, न परब्रह्म। "नेति नेति"—यह नहीं। यह नहीं। यह नहीं। जिह् वा उसका उच्चारण किस प्रकार कर सकती है जिसे मन और बुद्धि व्यक्त भी नहीं कर सकते हैं। यह सन्तों की चौथी अवस्था है और तुरीय कहा जाता है। सामान्यतया लोग कारण-शरीर, उपासना की सूक्ष्मताएँ या उपासना-भेद और सुख के रहस्य के बारे में नहीं जानते हैं। अतः इसी विषय पर प्रश्नों की शृङ्खला बनी रहती है।

आँखे सब कुछ देखती हैं परन्तु अपने आप को नहीं देखती हैं। नाक सबका गन्ध लेती है पर अपना गन्ध नहीं। कान सब कुछ सुनते हैं पर अपने आप को नहीं सुनते हैं। आप सबको जानते हैं पर अपने आप को नहीं जानते हैं। यह अज्ञान है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए आपको एक कृत्रिम दर्पण की आवश्यकता है जिसका उपयोग आप पहले से ही कर रहे हैं। सहायता प्रारम्भ हो गयी है और क्रमशः जब आप दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखेंगे तो आप स्वतः संतुष्ट होकर चुप हो जायेंगे। तब प्रश्नों की लड़ी स्वतः ही समाप्त हो जाएगी।

कोई व्यक्ति बिना विपरीत मार्ग का अनुसरण किये इसका अनुभव नहीं कर सकता। यह सबका आधार मात्र है। यहाँ तक कि आप और हम जब तक व्यक्त रूप में दृष्टिगोचर होते हैं हम सभी शरीर सेवी हैं। यही कारण है कि आत्मा, ब्रह्म आदि की व्याख्या शरीरधारी के रूप में किया गया है। यह सभी, वास्तव में, शरीर हैं—चाहे वे स्थूल हों, सूक्ष्म हों या कारण हों। यह तीनों क्रमशः शरीरों के नाम व परिभाषा हैं। नाम और रूप स्वयं ही शरीर हैं। निराकार, साकार शरीर है निर्गुण और सगुण भी शरीर ही है। नेति, नेति, नेति।

अध्याय ८

ज्ञान-उपासना-सुख

जब तक मनुष्य किसी वस्तु के महत्त्व के प्रभाव और लाभ को नहीं जानता तब तक न उसे इत्मीनान होता है और न तो सुख और शान्ति मिलती है। समस्त सुख का रहस्य चित्त-वृत्तियों के ठहराव और स्थिरता में है। सुख, शान्ति और स्थिरता का उत्तराधिकारी है। सृष्टि क्रम में ऐसी ही व्यवस्था है। यह सारा खेल उसी व्यवस्था के अनुसार है। परन्तु ज्ञान या साक्षात्कार के महत्त्व पर जो इतना बल दिया जाता है, वह बन्धन एवं आवरण की समस्या से सम्बन्ध रखता है। अन्यथा जो कुछ घटित हुआ है, घटित हो रहा है, घटित होगा और घटित होता ही रहेगा, अपने क्रम में चलता ही रहता है।

अब प्रश्न है : यदि हर चीज स्वतः ही घटित होती है तो ज्ञान का महत्त्व है ? यदि अपने आप ही हुआ करता है तो फिर जानने की इच्छा एवं प्रयत्न की आवश्यकता कहाँ है ? उत्तर यह है कि जिसे जानना, और जानने के लिये संघर्ष कहते हैं उनका भी प्रकृति के उसी क्रम में अस्तित्व है। हम इससे बच कैसे सकते हैं ? जिसका घटना नियति में है वह अवश्य ही घटित होता रहेगा। तब प्रश्न उठता है कि हम चिन्ता क्यों करें जब

कि हमारे चिन्ता किये बिना ही एक काम आप से आप ही होता रहता है। उस हालत में हमारे प्रयत्न निरर्थक होंगे और वह अप्राप्य बना रहता है। इसका उत्तर यह है कि चिन्ता न करें तो अति उत्तम है। यदि बेफिक्री रहे तो बड़ी अच्छी बात है। परन्तु हम जिसे चिन्ता कहते हैं वह मन की कुरेद है, जो आन्तरिक इच्छाओं का परिणाम है। और जब तक इच्छा की पूर्ति नहीं हो जाती है यह पूर्ति के लिए कार्य करती रहेगी। संस्कृत में इस इच्छा को "वासना" कहते हैं। केवल इसी के कारण मानव जगत अस्तित्व में आया है और जब तक यह इच्छा इच्छाहीनता में नहीं परिवर्तित हो जाती किसी को शान्ति नहीं मिल पाती।

इच्छा का इच्छाहीनता में परिवर्तन का अर्थ है स्थिरता, उपासना और ठहराव। इसकी प्राप्ति तो ज्ञान से या इच्छाओं की पूर्ति या तुष्टि से होती है। इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेने के पश्चात् एक प्रकार की स्थिरता आ जाती है। इसलिए विज्ञ जनों ने ज्ञान का गुणगान किया है। यह अक्षरशः ठीक है। जब तक व्यक्ति ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तब तक मन में विवेक, निर्णय और दृढ़ता की कमी का बना रहना अवश्यम्भावी है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि दुविधा और आगा-पीछा में पड़े रहने वाले मनुष्य में अत्यधिक बेचैनी रहती है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति में हमेशा हर हालत एक-सी नहीं रहती। उसका उत्थान होता रहता है। उत्थान—वापसी को कहते हैं। सिम-

टाव के साथ उत्थान बराबर होता रहता है जैसे जाग्रत अवस्था का सिमटाव स्वप्नावस्था में और स्वप्नावस्था का स्वभावत: सुषुप्ति में हुआ करता है। फिर सुषुप्ति से स्वप्न में अथवा जाग्रत में उत्थान होता है। यह दैनिक कार्यक्रम है जिसे काल-चक्र कहते हैं।

परितोष और इच्छाहीनता की लगभग एक ही दशा है। इच्छापूर्ति को भोग और इच्छा के अभाव (इच्छाहीनता) को योग कहा जा सकता है। योग भोग भी है। रस, स्वाद लेना भोग है; और सत्त्व के संयोग (मिलाप) का नाम योग है। ज्ञान और कर्म अन्त में एक ही हो जाते हैं। एक कर्म से सहस्रों कर्मों की उत्पत्ति होती है; और प्रारम्भ में एक इच्छा के गर्भ से सहस्रों इच्छाएँ जन्म लेती हैं। इनके बारे में बिना समझे पड़ा रहना, अन्धकार में रहना है। जब कर्म करते-करते और इच्छाओं को हटाते-हटाते अनुभव बढ़ जाता है और मन शुद्ध हो जाता है तब ज्ञान की दशा खुलती है और विवेक जाग्रत हो जाता है। फिर व्यक्ति प्रकाश के क्षेत्र में पग धरता है और इच्छाहीनता में स्थिरता आ जाती है। कर्म प्रथम (पूर्व) चरण है और ज्ञान बाद का (उत्तर) चरण। बिना सोचे और समझे वार्तालाप करना प्रथम चरण है। इसे मीमांसा कहते हैं। मीमांसा दो हैं : (अ) पूर्व मीमांसा या प्रथम ज्ञान की खोज, और (ब) उत्तर मीमांसा या परवर्ती ज्ञान की खोज। पहला कर्म है किन्तु केवल वह कर्म जो वेद की व्यावहारिक वास्त-

विकता को जानने के प्रयत्न से सम्बद्ध है। यदि यही विचार है तो यह पहली मंजिल है और उत्तर मीमांसा ज्ञान है, परन्तु केवल वही ज्ञान, जो वेदों की सैद्धान्तिक वास्तविकता के जानने के प्रयत्न से सम्बद्ध है। यह पिछली मंजिल है। जो उन्हें इस रूप में समझते हैं भ्रमित नहीं होते हैं। परन्तु जो और सामान्य कार्य किसी इच्छा की पूर्ति को ध्यान में रखकर करते हैं वे एक कर्म के बाद दूसरा कर्म और एक के बाद दूसरी इच्छा पैदा करते रहते हैं। और इनके अनवरत कर्म के चक्रजाल में फँसकर गन्तव्य से बहुत दूर फेंक दिये जाते हैं। उसी प्रकार जो ज्ञान के उद्देश्य को जानते हुए अपने को तर्क, प्रमाण और वाद-विवाद तक ही सीमित रखते हैं, बीच रास्ते में ही भटक जाते हैं। वे वाचिक ज्ञानी बनकर न इधर के होते हैं और न उधर के।

कर्म व्यक्त अस्तित्व का व्यावहारिक या उपयोगी पहलू है जबकि ज्ञान इसका सैद्धान्तिक पक्ष। ये दोनों पक्ष अस्तित्व के मध्य की कड़ी—जो मनुष्य का हृदय है—से जुड़े हुए हैं। यही हृदय अस्तित्व के स्थूल क्षेत्रों में अपनी धारा भेजता है, और कर्म को प्रतिपादित एवं अभ्यासित कराता है। और इस प्रकार अपने अस्तित्व के प्रकाशन का प्रबन्ध करता है। वही हृदय सूक्ष्म क्षेत्रों में अपनी धारा भेजता है और उसके ज्ञान का उत्तराधिकारी होता हुआ मध्य में स्थिर हो जाता है। जब तक यह ज्ञान और कर्म में पड़ा रहता है यह दोनों का आनन्द

प्राप्त करता है। परन्तु यदि दोनों में किसी एक की ओर पूर्णतः झुक जाता है तो यह या तो यह या वह हो जाता है क्योंकि इसमें सूक्ष्म और स्थूल दोनों की छाया और प्रभाव मौजूद रहते हैं।

यदि हृदय को कर्म और ज्ञान दोनों से विलग कर दिया जाता है और उसे केवल सूक्ष्म क्षेत्रों में स्थिर रहने की शिक्षा दी जाती है तो ऐसी शिक्षा को "उपासना" कहते हैं। इस उपासना के परिणाम को सुख और शान्ति कहते हैं जिसे चरम लक्ष्य के रूप में रखा जाता है। परन्तु इस उपासना में द्विधा का सुख है जिस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यह एक दोष है। शरीर का स्थूल क्षेत्र द्रव्य के अत्यधिक परिवर्तन का स्थान है। मन की सक्रिय धारा या चित्तवृत्ति इस स्थान से बारम्बार हटायी जाती है और चूँकि सुख वृत्ति की एकाग्रता और स्थिरीकरण की अवस्था है, इसके हटने से दुःख या कष्ट का अनुभव होता है।

शारीरिकता के सम्बन्ध में यह दोष है। इसका सुख (क) अस्थायी (ख) क्षणभंगुर (ग) बस के बाहर (घ) चेतनता बढ़ाता है, (ङ) द्विधा में डालता है और व्यक्ति न तो भोग प्राप्त कर पाता है और न योग।

उसी प्रकार, आत्मा के सम्बन्ध में चूँकि यह अपने साथ शारीरिकता के प्रभावों की छाया लेता है अतः वहाँ भी उसका

पाँव नहीं जमता; और बेखबरी में वहाँ जाता है और उसी दशा में वहाँ से वापस आ जाता है। इच्छाहीनता और तृप्ति पैदा नहीं होती। यह अपूर्ण तथा सदोष बना रहता है। पूर्णता के गुणों का उसमें विकास नहीं होता। न तो पूर्णता की उसे प्राप्ति ही हो पाती है।

शास्त्र सुख और दुःख के तीन रूप बताते हैं: (अ) आधिभौतिक—भूतों अर्थात् भौतिक तत्त्वों से निर्मित सृष्टि, (ब) आधिदैविक—रूहानी या देवी देवताओं द्वारा दिया गया, (स) आध्यात्मिक—अपने ही हृदय में स्थित हृदय द्वारा दिया गया। इस प्रकार दुःख और सुख, इनके मेल और प्रभाव से प्राप्त होता है।

चित्तवृत्ति की उपासना, स्थिरत्व, ठहराव एवं दृढ़ता की दशा का नाम सुख है। और दुःख उस अवस्था का नाम है जिसमें चित्त में दुर्वृत्ति, दुर्वासना, झटका, हटाव और दुर्बलता है। इसके अतिरिक्त सुख और दुःख कोई चीज नहीं है। मन या चित्त की वृत्ति सिर से पैर तक नसों और नाड़ियों द्वारा धाराओं के रूप में बहती रहती है। जब यह किसी स्थान पर ठहरती है तो सुख की अनुभूति होती है और जहाँ से बलपूर्वक हटायी जाती है वहाँ दुःख की अनुभूति होती है। यह सदैव शारीरिक, मानसिक और आत्मिक क्षेत्रों में चक्कर लगाती रहती है और सुख और दुःख का अनुभव करती रहती है। यदि यह अपने आप ही प्राकृतिक रूप में आती जाती रहती है तो

उसे सुख या दुःख नहीं होता। उसके ठहरने पर सुख और जबरदस्ती विवशतापूर्वक हटने या हटाये जाने पर दुःख होता है। इस प्रकार सुख दुःख चित्त की वृत्ति के ठहराव और हटाव का खेल है।

उदाहरणार्थ, दो व्यक्ति शतरंज खेल रहे हैं। दोनों के चित्त की धार उस खेल पर स्थिर है, मजा आ रहा है, आनन्द प्राप्त हो रहा है, ताजगी और सुख मिल रहा है। यदि एक तीसरा व्यक्ति उन्हें छेड़ देता है या खेल बिगाड़ देता है और शतरंज-पट को उलट देता है तो उनकी स्थिर हुई वृत्ति जबरदस्ती हटायी गयी। या दूसरे शब्दों में, हटने के लिये विवश कर दी गयी। परिणाम हुआ सम्बन्ध-विच्छेद, बदमजगी (अरुचि) और दुःख। यह पहला उदाहरण है। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। एक व्यक्ति बाग में घूमने के लिये जाता है। वह फूलों, वल्लरियों, वृक्ष-वीथियों, सुन्दर दृश्य एवं सुगन्धित क्षेत्र को देख रहा है। उन सब पर उसकी चित्त की वृत्ति ध्यान के लगाव के साथ स्थिर हो जाती है और वह सुखी होता है। यदि उसका ध्यान किसी व्यक्ति, घटना या विरोध के प्रभाव से बलपूर्वक हटाया जाता है तो उसका सुख दुःख में परिवर्तित हो जाता है। यह दूसरा उदाहरण है।

एक और उदाहरण लीजिए। सितार और तबला बज रहे हैं। गायक गा रहा है श्रोता की चित्तवृत्ति गायन और वादन

में निमज्जित हो जाती है और वह सुखी है। यदि कोई उसे वहाँ से हटा देता है तो उसकी वृत्ति वहाँ से हट जायेगी और वह दुःखी हो जाता है।

यह वृत्ति जब खाद्य पदार्थों और स्वादेन्द्रिय को केन्द्र बनाकर उस पर स्थिर होती है तो सुख प्राप्त होता है। पदार्थों को हटा दीजिये या जिह्वा को दाँतों से जरा काट लीजिये तो यह वृत्ति अपने को सहसा संकुचित कर लेती है, और, परिणाम दुःख होता है। हड्डी चबाते हुए किसी कुत्ते को ज़रा छेड़ दीजिए फिर परिणाम देखिये। जब एक मनुष्य स्वस्थ रहता है तो चित्त की वृत्ति शिराओं और धमनियों के द्वारा आती जाती हुई शरीर के क्षेत्र पर ठहरा करती है जिसका परिणाम सुख होता है। यदि कोई चोट लग जाय या शिरा कट जाती है या खून बहता है तो इन दुर्घटनाओं के कारण वृत्ति की धार को ठहरने का अवसर नहीं प्राप्त होगा। चोट के कारण उसे बारम्बार हटना होगा और परिणाम दुःख के अतिरिक्त और कुछ न होगा।

पूर्ण स्वस्थ अवस्था में वृत्ति का ठहराव होता रहता है और सुख प्राप्त होता है। रुग्णावस्था में इसका हटाव होता है और परिणाम दुःख होता है। चित्त की वृत्ति के धार के ठहरने से यदि आमाशय ठीक प्रकार से अपना कार्य करता रहता है तो सुख होता है। यदि कहीं भारीपन या अपच हुआ और वृत्ति को विवश होकर हटना पड़ा तो फिर वहां दर्द और दुःख होता है। उसी प्रकार यह अस्वस्थता की सभी दशाओं के लिये लागू

होता है। शरीर के चुटैले भाग पर मरहम लगाने पर दो दशायें होंगी, या तो शिराओं में सातत्य पुनः स्थापित हो जायेगा और वृत्ति के धारा के प्रवाह में कोई अवरोध नहीं उत्पन्न होगा या वह भाग सुन्न हो जायेगा और वृत्ति का हटना बन्द हो जायेगा। परिणामतः कोई दुःख नहीं होगा ।

जब कोई सहानुभूति वाला मित्र, वैद्य, गुरु या सगा-सम्बन्धी आता है और रोगी के बगल में बैठता है तो रोगी की चित्त की वृत्ति की धारा औषधि के प्रभाव से शरीर के निचले भाग को छोड़कर हट जाती है और मस्तिष्क में पहुँच जाती है जो प्राकृतिक नियमानुसार अनजाने ही उसका केन्द्र हो जाता है। अतः दर्द की कोई अनुभूति नहीं होती है। यदि कोई व्यक्ति किसी ऊँचे प्रासाद से गिरकर अपना सिर तोड़ लेता है तो उसके मन की धारा चोट के प्रभाव से शरीर के निचले क्षेत्रों को बिल्कुल छोड़कर मस्तिष्क में स्थिर हो जाती है। वहाँ भी यही भेद काम करता है। सुख बाहर तो कहीं भी नहीं है। यह अपने ध्यान के लगाव की वृत्ति के ठहराव और सुरति के सिमटाव में है। जिन्हें यह रहस्य ज्ञात है उन्हें बाहर सुख ढूँढने की आवश्यकता नहीं है।

कोई व्यक्ति अपने हृदय को केन्द्र बनाकर किसी विशेष प्रकार के विचार को मस्तिष्क में लिये सोच रहा हो और परिणाम जान लेने पर वह प्रसन्नता में डूबा रहता है। यह विचार

चाहे गणित सम्बन्धी समस्या, अथवा ज्योतिष शास्त्र की जटिल पहेली, अथवा दार्शनिक प्रश्न या अन्य किसी विचार से सम्बन्धित है। वहाँ भी वह सुख प्राप्त करता है और डुबाव की हालत हो जाती है। यदि कोई उसे छेड़ देता है और वृत्ति हट जाती है तो वह दुःख का अनुभव करेगा।

आध्यात्मिक क्षेत्र में सिवाय चित्त की वृत्ति के धार के प्रवाह और ध्यान के स्थायित्व के और कोई सिद्धान्त मान्य नहीं है। आध्यात्मिक सुख और कुछ नहीं। वह केवल स्थिरता, ठहराव और शान्ति है।

Imp.

— —

अध्याय ६

सुख और दुःख के तीन प्रकार

(क) भूत का अर्थ है तत्त्व। सृष्टि, जो इन तत्त्वों से बनी है—चाहे वह सृष्टि पार्थिव हो या आकाशीय—आधिभौतिक कहलाता है। इन तत्त्वों—चाहे वे सूक्ष्म हों या स्थूल —के संयोग से, अथवा उन पर वृत्ति की धार के स्थिर होने से जो सुख होता है, उसे आधिभौतिक सुख कहते हैं। और उन पर से वृत्ति के बलपूर्वक हटाये जाने से जो दुःख होता है वह आधिभौतिक दुःख—भौतिक दुःख कहलाता है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सूक्ष्म तत्त्व हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये स्थूल तत्त्व हैं। सृष्टि जो इन तत्त्वों से बनी है सब आधिभौतिक है।

(ख) देव, कारण तत्त्व को कहते हैं। कारण तत्त्व स्थल और सूक्ष्म के बीच में होता है। संस्कृत में इस शब्द के बहुत से अर्थ हैं यथा—देवता, राजा, देवर, मूर्ख, बालक, पेशेवर मनुष्य, भाला, बरछी, प्रतियोगिता, ब्राह्मण और कायस्थ जातियों की पदवी, अङ्ग, देवी, दुर्गा, रानी, उच्च घराने की महिला की पदवी, पूजा, सम्मान, आदि। यह सब सांसारिक अर्थ हैं।

वास्तविक अर्थ केवल "क्रीड़ा या खेल" (संस्कृत धातु, दिव्= खेलना, चमकना) है। यहाँ कारण अर्थ दिया जाता है जिसका मतलब चमकता हुआ है। जो सब चीज़ों में क्रीड़ा करता है और चमकता है। यह शान्ति और स्थिरता की अवस्था है जिससे आत्मा का अभिप्राय समझा जाता है। वृत्ति के इस कारण अवस्था में स्थिर होने से जो सुख होता है और वृत्ति के इस हालत के हटने से जो दुःख होता है दोनों ही आधिदैविक कहलाते हैं। साधारणतया लोग सूर्य, चन्द्र, गर्जन, बिजली आदि से प्राप्त दुःख को आधिदैविक मानते हैं परन्तु यह गलत है क्योंकि यह सब आधिभौतिक हैं।

(ग) आत्मा वह है जिसमें गति और चिन्तन है, (अथ= गति, मन=चिन्तन)। यह दोनों अवस्थायें मन में होती हैं और इसीलिए यही आत्मा बन जाता है। इसकी विशेषताएँ सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, घृणा, इच्छा और प्रयत्न हैं। यह तीन प्रकार की गतियों एवं चिन्तनों से सम्बन्धित है और इसकी गति और स्थिरता तीनों अवस्थाओं में कार्य करती रहती है। पहला, स्थूल शरीर है; दूसरा, कारण शरीर या आत्मा और तीसरा, इसकी अपनी आन्तरिक दशा (उल्टा हुआ प्रतिबिम्ब), या हृदय क्षेत्र है। इन्हीं में सुख या दुःख की अनुभूति, वृत्ति की धारा के ठहराव, सिमटाव या हटाव के कारण होती है। इस प्रकार के सुख और दुःख को आध्यात्मिक कहते हैं अर्थात्

"जिसमें गति और चिन्तन हो"। आध्यात्मिक केवल मन की अवस्था का ही नाम है।

जागृत अवस्था का क्षेत्र शरीर पर वृत्ति के ठहराव और हटाव का मानचित्र है। स्वप्न का क्षेत्र हृदय पर वृत्ति के ठहराव और हटाव का मानचित्र है। सुषुप्ति का क्षेत्र आत्मा पर वृत्ति के हठराव और हटाव की क्रीड़ा है। यह ज्ञात है कि कोई व्यक्ति सदैव सुषुप्ति की अवस्था में नहीं रह सकता। उसे स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में वापस आना ही है। यदि ऐसी बात है तो स्थायी, शाश्वत सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है? तीनों ही अवस्थायें काल चक्र के अन्तर्गत हैं।

जहाँ कहीं भी सुख का विचार पाया जाता है वहाँ दुःख की छाप का होना अवश्यम्भावी है क्योंकि दुःख और सुख दोनों सापेक्ष पद हैं। परन्तु सुख और दुःख से बिल्कुल भिन्न एक विस्मयकारक अवस्था उत्पन्न कर देना किसी सीमा तक सम्भव है। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति सुषुप्ति में रहने का अभ्यास करे, सचेत होकर उसमें वृत्ति के ठहराने का यत्न बनाये रखे, और लय और निषेध की अवस्था पैदा कर दे। स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में वापस आने के बाद भी इस प्रकार की विस्मयकारी अवस्था बनायी रखी जा सकती है। इसी को परमानन्द या परम सुख कहते हैं। यहाँ ज्ञान की अवस्था नितान्त अपेक्षित है। बिना ज्ञान के उसकी सम्भावना भी कठिन

है। इसको प्राप्त करना ही कठिन नहीं वरन् इसको समझना भी कठिन है। परन्तु इस अवस्था में भी एक दोष बना रहता है। यदि आनन्द की अनुभूति का थोड़ा भी विवेक व्यक्ति में शेष रह जाता है तो कुछ न कुछ दुःख होगा, चाहे जितना भी कम हो। वास्तविक जीवन अपने को तभी व्यक्त करना आरम्भ करेगा जब वैराग्य और अभ्यास से हृदय बिल्कुल शुद्ध हो जाता है और अपने को उस अवस्था में लय कर लेता है।

यह संसार सम्भावनाओं का संसार है। यहाँ किसी संभावित घटना के घटित होने की पूरी संभावना तो रहती ही है परन्तु सबसे विस्मयकारी चीज इस सम्भावना के जगत में यह है कि किसी असम्भावित घटना के सम्भव हो जाने की सम्भावना भी रहती है।

यह भली भाँति मालूम है कि सुषुप्ति से वापस आने पर शरीर में ताजगी और तरी रहती है। और उसकी समाप्ति उस समय होती है जब जाग्रत अवस्था के बार-बार सोच-विचार और चिन्तन-ध्यान के अभ्यास में वह खर्च हो जाती है। परन्तु, यदि कोई अभ्यास और वैराग्य से अपने पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है तो सुषुप्ति का सुख अनवरत रूप से बनाये रख सकता है। व्यग्रता समाप्त हो जाती है। इस जगत में बहुत से जीव जन्तु हैं जो जागृत अवस्था में सोते हैं। यथा युद्धभूमि में दौड़ते घोड़े या ईश्वरोन्माद से प्रभावित व्यक्ति। ऐसे व्यक्तियों की जागृत और स्वप्नावस्था एक ही होती है।

ख्वाबो बेदरियाम शुदह एक सान ।
अज़ इनायत सोहबते पीरान ।।

"साधु सन्तों की संगत की कृपा से मेरी जागृत व स्वप्न अवस्था एक ही हो गयी ।"

परन्तु यह सुख भी स्थायी नहीं है । इस दोष को दूर करने का उपाय यह है कि वृत्ति (अपने मन की धारा) को कुछ समय तक ब्रह्म में लय कर देने का अभ्यास कर लिया जाय । जब वृत्ति ब्रह्माकार होने लगेगी तो उसकी प्रथम अवस्था प्रकट होगी । वह ब्रह्म के स्वरूप को समझ सकेगी । तब यह उस रूप में भी लय होने लगेगी । लय की इस अवस्था में दूसरी दशा आनन्द की प्रकट होगी । और जब ब्रह्म और जीव (व्यष्टि-आत्मा) का अन्तर समाप्त हो जाता है तो दुःख का अन्त हो जायेगा । तब वृत्ति के हटने का भय नहीं रह जायेगा । बिन्दु और सिन्धु एक हो जायेंगे ।

———

अध्याय १०

परमानन्द या ब्रह्मानन्द

परमानन्द की प्राप्ति मानव जीवन का आदर्श और उच्चाकांक्षा है। ब्रह्मानन्द ही परमानन्द होता है।

कर्म अस्तित्व की अभिव्यक्ति का साधन है; और वास्तविक अस्तित्व वही है जो अपनी अभिव्यक्ति निष्काम कर्मों के सम्बन्धों में करता है। ज्ञान अस्तित्व की वास्तविकता को जानने का साधन है। अस्तित्व का वास्तविक ज्ञान वह है जो वाचिक नहीं है बल्कि यथार्थ या तथ्यगत है। उपासना अस्तित्व का सुख प्राप्त करने का साधन है, और यह (उपासना) ऐसी होनी चाहिये कि व्यक्ति उसमें लय हो जावे और दुःख का लेशमात्र भी अनुभव न करे।

ब्रह्म और जीव सिद्धान्तः एक ही हैं। जो परमात्मा है वही जीव भी है। ब्रह्म और जीव दोनों एक हैं। ब्रह्म में से महानता और जीवन में से लघुता के गुण को हटा दीजिये तब उन दोनों की असलियत एक रहेगी। वह असलियत ही गति और चिन्तन है। आत्मा का अर्थ गति (अथ) और मनन, चिन्तन है। ब्रह्म का अर्थ बृह्-वृद्धि या प्रसारण और मनन, चिन्तन है।

यह उनकी विशेषताएँ हैं। गति या वृद्धि एक ही वस्तु हैं। अन्तर केवल अंश या पैमाने या माप का है। जिस प्रकार ब्रह्म का जगत है उसी प्रकार आत्मा का भी जगत है। अन्तर केवल सर्वज्ञता और अल्पज्ञता, महान और लघु होने में है। वे दोनों ही अपना संसार रचते हैं और उन्हें विनष्ट कर देते हैं। जीव की भांति ब्रह्म भी जागता और सोता है और सुषुप्ति में जाता है जैसा कि विश्व, तैजस, प्राज्ञ, नामों से स्पष्ट है, जो (नाम) जीव की विशेषताएँ हैं। और विराट्, अन्तर्यामी या अव्याकृत हिरण्यगर्भ—जो ब्रह्म की विशेषतायें हैं।

जब वृत्ति ब्रह्म पर स्थिर रहती है तब जीव ब्रह्म का भी ज्ञान प्राप्त करेगा। क्योंकि वृत्ति के भी तादात्म्य, एकत्व और सम्बन्ध से ही ज्ञान होता है, और यही ज्ञान परमानन्द या ब्रह्मानन्द में परिवर्तित हो जाता है। जब इस प्रकार के ज्ञान का उदय होता है, वृत्ति के स्थिर या अस्थिर होने का भाव भी धूमिल पड़ जाता है, और जीव सुख और केवल सुख का ही आनन्द उठाता है। वह ब्रह्म से एकाकार होने के कारण, बिन्दु और सिन्धु की भाँति मिला हुआ लहराता रहेगा। दुःख तब नाममात्र के लिये भी नहीं रहेगा क्योंकि ब्रह्म में कोई दुःख नहीं है। दुःख अंश में है, पूर्ण में नहीं। खण्ड में है अखण्ड में नहीं।

———

अध्याय ११

उच्चतम सत्य का अन्वेषण
चौथी अवस्था का संकेत

साधु जनों !
रूप केवल एक ही
अशेष में व्याप्त है ।
एक बूँद, दूसरे से,
भिन्न नहीं होता है ।
सिन्धु और बिन्दु
मात्र एक तथ्य हैं ।
बिन्दु में सिन्धु;
सिन्धु सम बिन्दु
मात्र यही सत्य है ।
बिन्दु के पार,
सिन्धु लहराता है ।
सिन्धु ही तो
बिन्दु को आधार देता है ।
बिन्दु यदि जान ले,
वह रत्नाकर है ।

समग्र अन्य सत्यों का
यही एक आकर है।
सिन्धु मन रेंग गया
वह एक बिन्दु है।
ज्ञान-ज्योति उदित हुई
तम-कुभाव दूर हुआ
अन्तर का अन्त हुआ।
झूठा आभास है
झूठा है विचार।
झूठे जगत के हैं
सारे व्यवहार।
जब हम जानते हैं
सब कुछ मिथ्या है
सभी द्वन्द्व जीवन के
तभी अन्त पाते हैं।

ब्रह्म विपरीत अवस्थाओं से मुक्त होता है जबकि जीव या व्यष्टि आत्मा विरोधी अवस्थाओं में निवास करता है। इसमें खिचाव और कसाव के गुण होते हैं जबकि ब्रह्म में बेचैनी नहीं होती है क्योंकि उसमें (ब्रह्म में) सुख का भाव नहीं होता है। व्यष्टि आत्मा अपने में जीवन की इच्छा रखने के कारण सुख की कामना करता है तथा दुःख से दूर भागता है।

दुःख व्यष्टि आत्मा के अंशी होने के कारण है और चूँकि यह सुख की इच्छा करता है अतः यह दुःख की अनुभूति करता है। ब्रह्म में अखण्डता, पूर्णता और समग्रता है। वह न तो जीवन चाहता है और न सुख। इसलिए उसके लिये कोई दुःख नहीं है।

ज्ञान अपूर्णता की अवस्था है। जहाँ कहीं भी ज्ञान है वहाँ ज्ञान, ज्ञाता और शेष की त्रिपुटी है जिसका परिणाम सीमाबद्धता है। परन्तु जब ब्रह्म में सीमाबद्धता नहीं है तो आप त्रिपुटी की स्थापना किस प्रकार कर सकते हैं? चूँकि ब्रह्म पूर्ण है उसमें किसी भी प्रकार की कल्पना और भ्रम किस प्रकार हो सकता है? कल्पना और भ्रम केवल जीव में पाया जा सकता है, जो अपूर्ण है। ब्रह्म में अपनी समग्रता और पूर्णता का कोई भाव नहीं होता। उसमें जो भी गुण पाये जाते हैं वे जीव के दृष्टिकोण से ही हैं। ब्रह्म अपने को सच्चिदानन्द नहीं कहता। वह न तो कर्म में विश्वास करता है और न तो अपने को पूर्ण कहता है। यह जीव ही है जो उसे वैसा समझता है और अपना अन्तिम उद्देश्य मानता है। यदि ब्रह्म यह कहता है कि वह पूर्ण है तो इसका तात्पर्य यह है कि उसमें अंश और पूर्ण का भाव है। और, जब अंश का भाव या ज्ञान आ गया तो वह पूर्ण न रहा। अंश और पूर्ण दो वर्ग हैं जिन्हें किसी भी हालत में एक नहीं कहा जा सकता।

व्यष्टि आत्मा या जीव में इच्छा इसलिए होती है कि उसमें अंश होने की छाप या भ्रम रहता है अन्यथा एकत्वदर्शी दृष्टि को (वह दृष्टि जो समस्त में एकत्व देखती है उसे) बिन्दु का अस्तित्व सागर में खो गया सा लगता है। ऐसी दृष्टि के लिए सागर मात्र एक विस्तृत और असीम बिन्दु है जिसमें अंश (टुकड़े) नहीं हैं। यह एक पक्ष है।

दूसरी बात यह है कि यदि किसी कारणवश बिन्दु को सागर से पृथक् होने का ज्ञान है तो उसे यह भी सोचना चाहिए कि प्रत्येक बिन्दु की पृष्ठभूमि में सागर है और वह सागर में मिल जाने के कारण स्वयं ही सागर के साथ एक हो गया है। जब एकत्व स्थापित हो जाता है तो फिर बिन्दु और सागर के पृथक्त्व का भ्रम किस प्रकार रह सकता है? जीव इस प्रकार सोचता भी नहीं है। यदि वह इस प्रकार सोचे तो पृथक्त्व, न्यूनता और अंश का भाव भी उसे चिन्तित नहीं करेगा। इस प्रकार का विश्वास अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति में प्रथम पग है। इसे वाचिक ज्ञान कहते हैं जो अस्तित्व सत्पना है तथा जिसके साथ ही साथ शरीर शारीरिकता है। मध्य के ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहते हैं जो इसी के विचार और मनन का परिणाम है और जो चित्पना कहलाता है। अन्तिम ज्ञान को "वास्तविक ज्ञान" या "तद्रूप ज्ञान" कहते हैं जो "आनन्दपना" है अर्थात्, मस्ती और आनन्द की वह दशा है जिसमें दुःख का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं होता। इसमें आनन्द की भी अनुभूति नहीं होती। यह पूर्ण है, समग्र है, और यही मात्र ब्रह्म है।

———

अध्याय १२

ब्रह्म

ब्रह्म को बढ़ने वाला कहा गया है : बृह् (बढ़ना), और मनन—विचार करना। इसे यह नाम इसलिए दिया गया है कि यह जीव ही है जो इसे ऐसा नाम देता है। इसके अतिरिक्त जीव ने इसे यह नाम अपने ही दृष्टिकोण से दिया है। अन्यथा उसने (ब्रह्म ने) आज तक अपना नाम किसी को नहीं बताया है और न तो कभी बतायेगा ही। चूँकि स्वयं जीव में गति, वृद्धि और चिन्तन होता है इसने इसे (ब्रह्म को) अपने ही प्रकृति के अनुरूप बृहत्तर मानते हुए ऐसा नाम दे दिया है। वास्तव में, यह न तो बड़ा है, न छोटा है, न सीमित है, न असीमित है। यह जैसा है वैसा है। और नाम देने के दृष्टिकोण से यह अच्छा नाम है। ब्रह्म की समस्त विशेषताएँ या गुण जीव के मन पर निर्भर हैं। वह जीव की प्रकृति के अनुसार सगुण अथवा निर्गुण है। जीव ने ब्रह्म को स्वयं अपनी समझ के अनुसार उच्चतम भाव और सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य निश्चित किया। ऐसा कर लेने के पश्चात् जीव ने अपने को तदनुसार ढालने की और ब्रह्म की ओर बढ़ने की इच्छा की है। यह उसके अपने मस्तिष्क की उपज है। और जब वह ज्ञान और बुद्धि में पर्याप्त

रूप में विकास प्राप्त कर लेता है तब उसे मालूम होता है कि ब्रह्म के ये सभी मानसिक गुण स्वयं अपनी (जीव की) ही समझ और ज्ञान से निश्चित किये गये थे। यह तब ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार कर लेता है और सगुण ब्रह्म के भाव को त्याग देता है।

जीव को ब्रह्म की पूर्णता, समग्रता में शान्ति मिलती है क्योंकि वह अपने को अपूर्ण समझता है और पूर्णता एवं निर्दोषता का प्रेमी और इच्छुक बन जाता है। यह पहली बात है। दूसरी बात यह है कि जीव के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और अस्तित्व परिभ्रमण की अवस्था में है, और इस प्रकार जीव भी स्वयं अपने आपको परिभ्रमण चक्र में पाता है, और चूँकि क्रमबद्ध परिभ्रमण का कुछ विशेष प्रयोजन है वह इस प्रयोजन को सब में कल्पित कर लेता है और ऐसा मानता है कि सब में बुद्धि और विवेक है। यह अत्यन्त बुद्धिहीन को भी अपने कार्य में बुद्धिमान मानता है। अतः यदि जीव ब्रह्म को भी बुद्धिमान मानता है तो इसमें आश्चर्य नहीं है। और जब ज्ञान और समझदारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् इसे शान्ति और स्थायित्व प्राप्त होता है तो यह ब्रह्म को भी सिर से पैर तक शान्ति का स्वरूप मानकर शान्त हो जाता है।

ब्रह्म का अस्तित्व जीव के अस्तित्व पर निर्भर करता है। आपका अस्तित्व है और इसलिए आप उसके भी अस्तित्व में

विश्वास करते हैं ठीक वैसे ही जैसे बूँद जो सागर को दृष्टि में रखता है, उसके अस्तित्व में विश्वास करता है तथा इसे स्वीकार करता है। यदि आप अस्तित्व में न होते तो कौन ब्रह्म में विश्वास करता, समझता और उसके अस्तित्व के विषय में प्रश्न करता? ब्रह्म जीवों की समग्रता (योग) भी है। यह ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म का स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर के दृष्टिकोण से इसे विराट् माना जाता है जो सभी अस्तित्वों का समुच्चय है। ब्रह्म की बुद्धि, मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर है; क्योंकि जब मनुष्य में बुद्धि और समझदारी होती है तो वह ब्रह्म को समस्त दु:ख और ज्ञान का समुच्चय समझता है और उसे सर्वज्ञ और पूर्ण ज्ञानी कहता है। चूँकि हम ज्ञान और बुद्धि को अपने अन्तर का मूल तत्त्व मानते हैं अत: ब्रह्म को भी समस्त ब्रह्माण्ड के ज्ञान और बुद्धि के मूल तत्त्वों का समुच्चय मानकर उसे अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, प्रमुख संचालक, सूत्रात्मा, हृदयों का हृदय, आदि-आदि कहते हैं। हम सुख और हर्ष जानते हैं और प्रसन्न होते हैं। हम दूसरों में भी हर्ष देखते हैं। इससे हम निष्कर्ष निकालते हैं कि जिस प्रकार शारीरिकता का समुच्चय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रूप में दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार हर्ष का भी समुच्चय अवश्य ही होगा जिसे हम सर्वोत्कृष्ट आनन्द, सर्वहर्ष, सर्वसुख, हिरण्यगर्भ, आदि, आदि कहते हैं। यह कहा जाता है कि व्यक्ति को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने में और अपने को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में देखना चाहिए। यह केवल वाचिक और सैद्धान्तिक है। अब व्यावहारिक बात पर ध्यान दें।

हम अपने चारों तरफ करोड़ों जीव-जन्तु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, राजा, प्रजा और अगणित अन्य चीजें देखते हैं। यह सभी बड़े और छोटे दृश्य हमारी आँखों की पुतलियों में क्षण मात्र में ही समा जाते हैं। आँखें खोलिए और आकाश से सहस्रों सितारे उसमें समा जाते हैं। यह बाहरी दशा है। अब आँखें बन्द कर लीजिए और वही सब चीजें अन्दर भी दीख पड़ती हैं। बाह्य और अन्दर एक जैसे ही हुआ जान पड़ते हैं।

हम सोचते हैं कि हम किसी राजा की प्रजा हैं। किसी अधिकारी के अधीन हैं; घटनाओं के दास और परिस्थितियों के अधीन हैं। इस प्रकार हमने अधीनता का निम्न-भाव ले लिया है; परन्तु, एक क्षण के लिए भी हमने नहीं सोचा कि इन सबकी वास्तविकता हम पर निर्भर है। यदि हम न होते तो 'राजा' को कौन 'राजा' और 'प्रजा' को कौन 'प्रजा' कहता? जब हम स्वयं ही किसी को राजा मानते हैं तो वह राजा है। जब हम पिता को पिता स्वीकार कर लेते हैं तो वह पिता हो जाता है। जब हम एक पत्नी स्वीकार कर लेते हैं तो वह पत्नी हो जाती है। ये सभी मानी हुई वस्तुएँ हैं। कहावत है "मानों तो देव, नहीं तो पत्थर"। यह हम ही हैं जिसके केन्द्र के चारों ओर यह अनेकता के सभी दृश्य चक्कर लगाते रहते हैं कि हमें कुछ कारणों से उन सबका तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। चक्कर को देखकर हमारी बुद्धि भी चक्कर खाने लगी और इसका परिणाम यह हुआ कि ध्रुवीय अर्थात् केन्द्रीय स्थिति का

आनन्द जाता रहा। चक्कर तो वृत्ति की परिधि है जो घूमती और भ्रमण करती रहती है ? परन्तु परिधि को देखकर केन्द्र ने अपने को घूमता हुआ मान लिया, जिस प्रकार घूर्णन करते हुए बालकों को भवन और उद्यान भ्रमण करते हुए प्रतीत होते हैं और रेलगाड़ी में यात्रा करने वालों को वृक्ष, तालाब आदि भ्रमण करते हुए प्रतीत होते हैं। इसे भ्रम कहते हैं। और एक बार जब हम इस प्रकार के भ्रम में पड़ जाते हैं तो हमें आवश्यकीय रूप से इसके बार-बार भ्रमण करने की अनुभूति करनी ही होती है।

अब हमें अपने को समग्र में और समग्र को अपने में देखने के रहस्य को समझना चाहिये।

कल्पना कीजिये कि हम ब्रह्म, केन्द्र, मौलिक तत्त्व और अस्तित्व का सत्त्व हैं। प्रारम्भ में यह भाव आन्तरिक रहने दीजिए तब बाह्य अभिव्यक्ति को देखकर सोचिए कि यह सभी दृश्य हमारे अपने मानसिक भावों के प्रतीक हैं। हमारे अतिरिक्त और कौन है ?

जब अन्तर और बाह्य एक हो जाते हैं तो सर्वप्रथम अनेकता का पर्दा गिर जायेगा। एकत्व का आगमन होगा। परन्तु वह भी धीरे-धीरे क्षीण हो जायेगा। फिर क्या रहेगा ? केवल आप स्वयं रहेंगे। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी लुप्त हो जायेगी। यह एक विचित्र दशा होगी जिसे न तो व्यक्त किया जा सकता है, न सुना जा सकता है, न विचारा जा सकता है।

एकत्व में लयावस्था, अनेकत्व में लयावस्था और वास्तविकता में लयावस्था—यह सभी अन्तरिम (बीच की) अवस्थायें हैं।

(१) एक नादान बालक अपना प्रतिबिम्ब दर्पण में देखता है और कहता है कि दर्पण के भीतर एक लड़का है। वह यह भी कहता है कि लड़के को बाहर निकाला जाय जिससे वह उसके साथ खेल सके। किसी शीशमहल का बावला कुत्ता अपनी ही प्रतिच्छाया को देख देखकर भूँकता फिरता है। यह अनेकत्व में निमज्जित ज्ञानियों का हाल है।

(२) एक बुद्धिमान व्यक्ति दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर कहता है, दर्पण के भीतर और बाहर स्वयं वही व्यक्ति है। यह एकत्व में लय की दशा है।

(३) वास्तविकता में लय की दशा का प्रेमी, आन्तरिक और बाह्य विचारों को एक ही मानता है और वास्तविकता की असलियत को सूक्ष्म—आनन्दमय परदे में रखते हुए सदैव आनन्दमय रहता है। यह वास्तविकता में लय की दशा है। यह तीनों अपरिवर्तनशील दशा में नहीं होती हैं। इसलिए चौथी दशा के लक्षणों का प्रारम्भ होता है।

यथार्थ वस्तु (जात, आत्मा) जो सभी चीजों का असल स्रोत है मुश्किल से दृष्टि आता है। एक अर्थ में, इसका न तो कोई नाम है और न रूप; और दूसरे अर्थ में, सभी नाम और रूप केवल इसी के हैं। यह सबका आधार है, और स्वयं इसका

कोई आधार नहीं। सभी इस पर निर्भर है पर यह किसी पर निर्भर नहीं है। यह यथार्थ वस्तु (आत्मा) है और यथार्थता अर्थात् ऐसा इसका होना (केवल हमारे दृष्टिकोण से) उसका गौरव है। यह पूर्ण है और यह पूर्णता (हमारे दृष्टिकोण से) इसका गुण है। हम ही इसे यथार्थ आत्मा और पूर्ण कहते हैं। यह शब्द हमारी समझ के लिए गढ़ लिये गये हैं जिससे कुछ तो उसका अनुभव हो जाय और हमें चैन आ जाय क्योंकि मात्र वही वास्तविक स्थिरता (चैन) है। उदाहरणार्थ, मान लीजिये, एक वस्तु है जिसके नीचे की ओर उसकी सत्ता (अस्तित्व) धुएँ की भाँति विचारों के सूक्ष्म रूप में इसे घेरे हुए है और अपनी क्रीडा कर रही है।

यथार्थ वस्तु

सत्ता अथवा माया

इस सत्ता को माया कहते हैं। उस वस्तु के सहारे यह माया वहाँ बहुत ही सूक्ष्म कणों के रूप में चक्कर करती हुई क्रीड़ा करती है। और उसकी छाया से तरह-तरह के रूप गढ़ती है। इस सत्ता का अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार शक्ति अपने शक्तिमान पर निर्भर करती है उसी प्रकार उसी वस्तु के अस्तित्व से इसके अस्तित्व का होना और न होना

प्रतीत होता है। शक्ति अपने आप में पृथक नहीं होती परन्तु गतिविधियों द्वारा अपने अस्तित्व की अनुभूति कराती है।

इस सत्ता में जो पूर्ण यथार्थ वस्तु की छाया पड़ी—उसे अपने अन्दर लेकर उस (सत्ता) में एक गोला, वृत्त या क्षेत्र बनाकर समग्र छायारूपी शक्ति को शोषित करके उसमें स्थायी और स्थिर हो गया। उसके नीचे एक दूसरा क्षेत्र या वृत्त बना जो इस सत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र था। चूँकि यह उसके नीचे था इसलिए इसमें सम्पूर्ण अँधेरा था।

जब दीपक जलता है, उससे धुआँ निकलता है जो एक स्थान बना लेता है। वह स्थान भी काला हो जाता है। इस प्रकार दो क्षेत्र या वृत्त बन जाते हैं; एक प्रकाश का और दूसरा अँधेरे का। प्रकाश के क्षेत्र की धारा अँधेरे के क्षेत्र की ओर बहकर बराबर आती जाती रहती है।

धारा के इस आने जाने के क्रम में एक अन्य क्षेत्र बन जाता है जो डमरू के मध्य भाग की भाँति होता है। इसे मध्य का अथवा दरमियानी क्षेत्र कह सकते हैं।

ये तीन माया के निम्न वृत्त हैं और गुण सहित।

(१) द्युलोक

सत्

(२) अन्तरिक्ष

रज

अन्तरिक्ष मध्य क्षेत्र है जो एक तारे की भाँति झिलमिल चमकता है।

अन्तर—मध्य, और
इच्छा—तारा

(३) पाताल

तम

'द्यु' रचना का सिर है, पाताल पैर है, अन्तरिक्ष को हृदय या मन समझना चाहिये।

यथार्थ वस्तु की परावर्ती धारा इन तीनों में आती है। यह वहाँ क्रीड़ा करती है। इससे तीन लोक बन जाते हैं :—

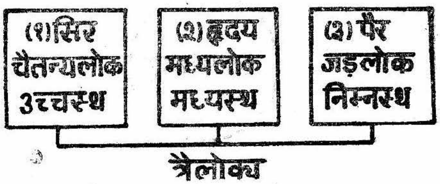

अब चैतन्य और जड़ के मिश्रण से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। हृदय इस निर्माण को समझने के लिए एक पुस्तक के समान है। यह चैतन्य और जड़ का मिश्रण है। इसलिए यह दोनों को समझने में सक्षम है।

सत् में चैतन्यता है; तम में जड़ता; और रज में प्रयत्न, क्रियाशीलता, चिन्तन और मनन है। सत् में आध्यात्मिकता, तम में शारीरिकता और रज में आध्यात्मिकता और शारीरिकता दोनों का मिश्रण है। सिर में आत्मा है। नीचे के भाग (पैर) में आत्मा का प्रतिबिम्ब है जो शारीरिकता है। और हृदय या मन में आत्मा और उसका प्रतिबिम्ब अर्थात शरीर की मिश्रित दशा है।

कारण शरीर सत् में या सिर में है; स्थूल शरीर तम में या पैर (निचले क्षेत्र) में और सूक्ष्म शरीर मध्य या रज में है। यह तीनों एक दूसरे से मिलकर एक विचित्र रूप में कार्य करते

रहते हैं। सत् में आनन्द, तम में सत् और रज (मध्य की दशा) में चित् ज्ञान है। ज्ञान या चैतन्यता केवल मध्य दशा का नाम है।

तम का स्वभाव कर्म है। यह अस्तित्व के अभिव्यक्ति की प्रथम अवस्था है और जागृति भी है। सत् का स्वभाव केवल आनन्द, सुख और शान्ति और स्थायित्व है जो भौतिक गति-विधियों की अन्तिम अवस्था है। यह सुषुप्ति भी है। रज की प्रकृति चैतन्यता है जो माध्यमिक अवस्था है। इसे स्वप्नावस्था भी कहते हैं।

'द्युलोक' में चैतन्य अर्थात प्रकाश के अभिव्यक्ति की शक्ति का ठोसपना है जो जमी हुई अवस्था में है। यही कारण है कि सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता। ज्ञान हृदय का वैशिष्ट्य है जो सदैव जड़ और चेतन दोनों को नियन्त्रित करने की इच्छा करता है। ज्ञान सुषुप्ति की अवस्था में पहुँचता है तो उसके प्रभाव में आते ही वह डूब जाता है और अपनी स्थिति भूल जाता है। परन्तु यदि साधना के द्वारा अपनी चैतन्यता बनाये रखते हुए वहाँ आरोहण करता है और जागरूक रहता है तो उसका ज्ञानयुक्त रहना सम्भव है अन्यथा नहीं। स्थूल शरीर की गतिविधियों में भी तो हृदय बहुधा डूब जाता है और स्वयं अपनी वास्तविकता के ज्ञान को खो बैठता है।

अभ्यास या साधना वह उपाय है जिससे सुषुप्ति में बेख-बरी न आये। जिस प्रकार मन स्थूल शरीर में सम्बन्धित क्रिया-कलापों में सोचता हुआ काम करता रहता है और उसका ज्ञान रखता है उसी प्रकार यदि यह सुषुप्ति या आत्मा के आनन्द का स्वाद लेते हुए मननशील और कार्यरत रह सके तो वहाँ भी जागरूकता की अवस्था प्राप्त कर लेना सम्भव है। इसका साधन या अभ्यास उपासना का प्रथम चरण है।

हमारा यह "हम" क्या है ? यह हमारा हृदय है। परन्तु, जब हमने इस हृदय को सूक्ष्म शरीर, आन्तरिक ढाँचा या

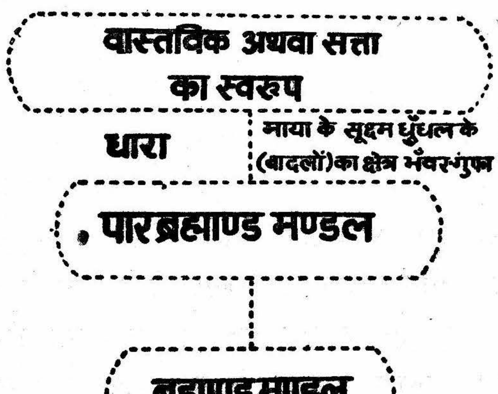

आन्तरिक शरीर कहा है तो स्थूल शरीर किस प्रकार चीजों को जान सकता है और अनुभव कर सकता है। तथ्य यह है कि माया के सूक्ष्म धुँधलके (बादलों) का क्षेत्र, आत्मा या वास्त-

विकता के नीचे घूर्णन करता है। भँवर का रूप धारण करके यह अपने में वास्तविकता के परावर्तन को शोषित कर लेता है। स्थूलता या जमावपन की यह विचित्र अवस्था शान्ति और स्थिरता की अवस्था है जो चैतन्यता या आध्यात्मिकता की प्रारम्भिक, माध्यमिक और अन्तिम अवस्था है। यह पूर्ण है और बीजरूप में है।

इससे जो धारायें प्रारम्भ होती हैं और बढ़ती हैं वे कुछ दूरी के बाद एक क्षेत्र (वृत्त) का निर्माण करती हैं। वे एक गोले के रूप में स्थिर हो जाती हैं और उनका नाम ब्रह्माण्ड और पारब्रह्माण्ड पड़ जाता है। उनमें मौलिक अवस्था के परावर्तन का आंशिक भाग, एक बूँद मात्र, के आने से ब्रह्म के तीन शरीर—कारण, सूक्ष्म और स्थूल बन जाते हैं।

वह परावर्तित भाग, जो वास्तविकता है, तीन शरीरों में रहता है जिसे हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी या अव्याकृत और विराट कहते हैं।

(१) वह भाग, जो भँवर गुफा में रहता है, हिरण्यगर्भ है।
(२) वह जो पारब्रह्माण्ड में रहता है, अन्तर्यामी या अव्याकृत है।

(३) वह जो ब्रह्माण्ड मण्डल में रहता है, विराट पुरुष है।

इनमें से कारण शरीर, कारण दशा, शून्यभाव की दशा, शान्ति की दशा और आध्यात्मिक आनन्द की उच्चतर दशा हिरण्यगर्भ है। अन्तर्यामी या अव्याकृत : सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्मता, ज्ञान की दशा, बुद्धि, विवेक और मानसिक संकाय, मन की उल्टी गति है। विराट : स्थूल शरीर, स्थूल शारीरिकता, कर्म और शरीर का संचालन, शारीरिकता की सच्ची अवस्था है।

ब्रह्म का स्थूल शरीर विराट है; कारण शरीर हिरण्यगर्भ है; और सूक्ष्म शरीर अन्तर्यामी या अव्याकृत है।

ब्रह्म का शरीर विराट, मन अन्तर्यामी और आत्मा हिरण्यगर्भ है। यह तीन स्थूल, सूक्ष्म और कारण आकाशीय (नैसर्गिक) ईश्वर के शरीर हैं। इनके परे एक चौथी अवस्था होती है जिसका व्यक्तीकरण या संकेत अनस्तित्व, अस्तित्व और अति अस्तित्व के रूप में किया जा सकता है। यह ब्रह्म उस चौथी अवस्था के एक बूँद से बना सागर है। यह सागर सदैव लहराता है और मायावी रचना या गुणात्मक ब्रह्माण्ड को सँभाले रहता है। यह क्रीड़ा वह अपने में ही करता रहता है। ब्रह्म की इस त्रिगुणात्मक स्थिति को सन्तों की भाषा में त्रिकुट या त्रिकुटी कहते हैं। यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण दशाओं का समुच्चय योग है। इसमें जड़ और चेतन और दोनों की ग्रन्थि की मिश्रित दशा होती है जिसे शारीरिकता तथा आध्यात्मिकता की ग्रन्थि और सत्, रज और तम की मिश्रित ग्रन्थि भी कहते हैं। ये तीनों परस्पर मिल-जुलकर ब्रह्म कहलाते हैं।

उस चौथी अवस्था को क्या कहते हैं ? इसे भौतिक धरातल में सुरत कहते हैं; उच्चतर धरातल में शब्द, और वास्तविक धरातल में अशब्द । परन्तु ये सभी नाम और केवल नाम हैं ।

सुरत को मनोयोग, स्थायित्व, सिमटाव, शान्ति और स्थिरता के रूप में पहचाना जा सकता है। चूँकि इसमें चौथी दशा या अवस्था का परावर्तित रूप पाया जाता है इसमें स्थायी शान्ति और निश्चल होने की विशेषता होती है। इससे सम्बद्ध होने के कारण यह हृदय भी इससे संजीवित हो जाता है और इसमें गर्व के अनुभव के साथ कार्य करता है। जब इसकी धारा का ऊपर की ओर खिचाव हो जाता है, यह क्रियाहीन, सुस्त और मृत हो जाता है।

सुरत शब्द 'श्रुत' अथवा 'श्रुति' से निकला है जिसका अर्थ 'सुना हुआ' होता है। चूँकि कोई और शब्द नहीं मिला जो अर्थ को अच्छी प्रकार व्यक्त कर सकता इसलिए इसी शब्द को पर्याप्त मान लिया गया। एक सामान्य भ्रान्ति के कारण वेद-मन्त्र श्रुति कहलाते हैं। यदि उन लोगों ने मंत्रों की ध्वनि को श्रुति कहा होता तो उनका कोई दोष न होता क्योंकि यह अकाट्य है। यह अनुभव का विषय है कि हर वस्तु शब्द से उद्भूत होती है और शब्द ही में लय हो जाती है।

———

अध्याय १३

शब्द माहात्म्य

शब्द चैतन्यता की अभिव्यक्ति है। यह प्राणों का प्राण, आत्माओं का आत्मा और अस्तित्वों का अस्तित्व है। समग्र विश्व इस पर टिका हुआ है। यह परम आधार और सम्पूर्ण सृष्टि की शाश्वत नींव है। यही चतुर्थ अवस्था है। सर्वत्र शब्द की ही गति की स्पन्दित धारायें दिव्य प्रकाश के रूप में विद्यमान हैं। जहाँ कहीं भी गति है, वहाँ शब्द की धारा है।

यही, 'शब्द' घूर्णन करने वाली आदि माया के क्षेत्र की भँवर गुफा है। यह महाकाल है। यही शब्द महाकाल के गोलाकार (अण्डवत्) स्थान से नीचे उतरता है और पारब्रह्म, ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म, सबल ब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर, शेष, महेश, ब्रह्मा, विष्णु आदि-आदि हो जाता है। यही देव और देवी है और माया देश में यह जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े, पार्थिव प्राणी आदि भी है।

मुख्यतया तीन क्षेत्र या मण्डल होते हैं।

(क) दयालदेश—जहाँ पर यह आधार, निश्चल अवस्था, कूटस्थ, या शीर्षस्थ आधार के रूप में है।

(ख) महाकाल देश—जिसमें सूक्ष्मता है। इसी के अन्तर्गत कारण, सूक्ष्म, और स्थूल मण्डल भी हैं जिन्हें ब्रह्मलोक या पारब्रह्म आदि-आदि कहते हैं।

(ग) मायादेश—यह स्थूलता का क्षेत्र है और शब्द भी माया के मेल से स्थूल रूप में कार्य करता है।

इनका आनुपातिक और समानुपातिक अभिप्राय कुछ अंश में द्यु, अन्तरिक्ष और पाताल की शब्दावली में प्राप्त किया जा सकता है; परन्तु इसकी व्याख्या की आवश्यकता है। उन्हें बिना सत् वचन और उपासना के जानना कठिन है।

———

अध्याय १४

शब्द द्वारा सृष्टि और प्रलय

प्रारम्भ में क्या था ? अँधेरे द्वारा आवृत एक अवर्णनीय और परिभाषारहित अँधेरा था। एक लहर चली। एक क्षोभ हुआ। अँधेरे का पर्दा गिर गया और इसने अपने गर्भ में विस्मय की छाया ग्रहण कर लिया। इसमें से महाकाल पैदा हुआ जो छाया और अँधेरे का शरीरधारी, गोलाकार रूप था। उसने इधर उधर देखा और कहा, "मैं हूँ"। तब से 'मैं' शब्द बन गया। वह भयभीत हुआ। और, तभी से भय का अस्तित्व हुआ। "मैं-पन" के साथ ही परायेपन के भ्रम से भय उत्पन्न होता है। तब इसने सोचा, "मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है। तब मैं क्यों अनावश्यक रूप से डरता हूँ ?" भय समाप्त हो गया। सोचने से भय दूर हो जाता है; जैसा कि आज भी होता है। इसने मूल को (असल को) देखा और इच्छा की कि वह भी मूल की भाँति प्रसारित हो जाय। यह इच्छा का प्रारम्भ था जो उस "सत्ता" या पुरुष से उद्भूत हुआ। वह अपने में बढ़ने लगा, वृद्धि करने लगा तब से यह ब्रह्म कहलाया।

उसने अपने को अँधेरे से जिसका नाम माया है और जो

इसका वास्तविक रूप है, संयुक्त कर दिया। मटर के दाने की भाँति दो रूप अस्तित्व में आये। एक का नाम पुरुष हुआ जो प्रथम शरीर रूप था। दूसरे को प्रकृति कहा गया जो पहले से ही पर्दे के रूप में था और अब व्यक्त हुआ था। इसे प्रधान भी कहते हैं। इसने प्रारम्भ में वास्तविकता को ढँक दिया था और इस कारण इसे यह नाम प्राप्त हुआ।

जब पुरुष और प्रकृति दोनों हुए तो उन दोनों का संयोग हुआ तब से उन्हें शरीर रूप में सन्तान पैदा हुए। प्रकृति के साथ संयोग करने में उसने सुख का आनन्द लिया। इसीलिए सृष्टि की हर जाति में नर और मादा के मिलन का विधान है। इस प्रकार उसी समय से यह प्रक्रिया आरम्भ हुई। Imp.

जब अँधेरे का पर्दा गिरा तो धाराओं के रूप में पाँच कलाएँ एक के बाद दूसरी अवतरित हुईं। उनके रंग में भिन्नता थी। पहली काली थी, दूसरी पीली, तीसरी लाल, चौथी सफेद और थोड़ी लाली लिए हुए, और पाँचवी शुद्ध श्वेत। ये कलाएँ महाकाल मण्डल की थीं। उस काल पुरुष ने तब ब्रह्म के तीन रूप धारण कर लिये—हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी या अव्याकृत और विराट। ये तीनों—कारण, सूक्ष्म, स्थूल हैं। पहला हिरण्यगर्भ कारण अवस्था है, जिसमें पाँच कलाएँ, शून्य और महाशून्य अवस्था में पायी जाती हैं। दूसरा अन्तर्यामी या अव्याकृत सूक्ष्म अस्तित्व है जिसमें पाँचों कलाओं ने शब्द, स्पर्श, रूप, रस Imp.

और गन्ध का रूप धारण कर लिया। यह त्रिकुटी का मण्डल है। तीसरा, विराट या स्थूल रूप है जिसने कारण कलाओं में पाँच स्थूल तत्त्वों—आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी का रूप धारण कर लिया। यह सहस्र-दल कमल का मण्डल है। जिस प्रकार सभी तीन शरीर ब्रह्म में होते हैं उसी प्रकार वे व्यष्टि आत्मा में भी होते हैं।

जब ब्रह्म और माया के मिलन से जीव जन्तुओं का प्रादुर्भाव हुआ तो वे भी इसी पर्दे के रूप में थे। मनुष्य के स्थूल शरीर में आकाश तत्त्व कण्ठ में स्थिर हो गया। वायु तत्त्व हृदय में, अग्नि तत्त्व नाभि में, जल तत्त्व जननेन्द्रिय में, और पृथ्वी तत्त्व गुदा में। यह शरीर भी इन्हीं तत्त्वों के पञ्चीकरण से निर्मित है। जिस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मनुष्य के सूक्ष्म शरीर (हृदय) में स्थित पाये जाते हैं उसी प्रकार वे अन्तर्यामी या अव्याकृत में पाये जाते हैं। और जिस प्रकार ये पाँचों कलायें मनुष्य के कारणशरीर में सिमटी पड़ी रहती हैं उसी प्रकार वे हिरण्यगर्भ में भी पायी जाती हैं।

काल उत्पन्न करता है और काल ही मारता है। यह काल का अवश्यम्भावी नियम है। आइये, हम पहले व्यष्टि आत्मा या जीव के प्रलय को समझें।

जब मृत्यु आती है तब सर्वप्रथम पृथ्वी तत्त्व मूलाधार (गुदा) चक्र से खिचकर जलतत्त्व के स्थान, स्वाधिष्ठान चक्र, में आ

जाता है। पृथ्वी तत्त्व जल में परिवर्तित हो जाता है। हाथ और पैर ठण्डे हो जाते हैं। यह जल प्रलय है। फिर जल स्वाधिष्ठान चक्र से खिंचकर, सौर चक्र या नाभि चक्र में एकत्र हो जाता है। यह जल तब अग्नि हो जाता है। नाभि के ऊपर का क्षेत्र गरम हो जाता है। यह अग्नि प्रलय है। तब अग्नि शनैः शनैः सौर चक्र से खिंचकर अनाहत या हृदय चक्र को जाता है और हृदय चक्र की हवा में मिलकर वायु बन जाता है। तब सारा शरीर काँपने लगता है—यह वायु प्रलय है। इसके पश्चात अनाहत चक्र की वायु खिंचकर कण्ठ (विशुद्धि), चक्र के आकाश से मिलकर तद्रूप हो जाती है। कण्ठ से ध्वनि पैदा होने लगती है—यह आकाश प्रलय है। शरीर का निचला भाग मृत हो जाता है और अब केवल नेत्रों के ऊपर का भाग जीवित रहता है। अब व्यष्टि आत्मा में पाया जाने वाला ब्रह्म तत्त्व का सिमटाव हो जाता है। आँखें उलट जाती हैं और विराट तत्त्व अपना विलय अन्तर्यामी तत्त्व में कर देता है जो क्रमानुसार अपने को हिरण्यगर्भ में विलय कर देता है—यह ब्रह्म प्रलय है जिसका नमूना सुषुप्ति है।

तब ब्रह्म के तीनों शरीर काल तत्त्व में विलय हो जाते हैं। यह काल तत्त्व प्रलय है। काल पुनः अपने क्रम में आवर्त्त आदि माया की भँवर गुफा में विलीन हो जाता है। इसके आगे कोई प्रत्याहरण (खिंचाव) नहीं होता। यह वहीं पड़ा रहता है,

ठिठका, सिमटा एवं सिकुड़ा हुआ। इसे महाकाल प्रलय कहते हैं। इससे आगे जो अधिष्ठान-कूटस्थ या आधारमात्र है और जिसका एक विस्मयकारक रूप होता है, उसका कभी प्रलय नहीं होता। यह जैसा है वैसा ही रहता है।

———

अध्याय १५

साधना-अभ्यास द्वारा आत्म-साक्षात्कार

ओ साधु !
करो अनुशीलन
सहज अभ्यास का ।
कुछ भी उपलब्ध नहीं
होता अभ्यास बिना
इसे भेद ही जानो ।
बात आत्मसिद्धि की क्या,
जागतिक प्रपञ्च भी
करते अपेक्षा हैं
सतत अभ्यास की ।
पूर्व-छाप, संस्कार,
कर्म के विधान में
करो प्रतीति दृढ़
उनके प्रतिफलन में ।
कर्म
अपने ही प्रकृति के
अनुरूप फल देता है

ध्रुव सत्य यह विधान है ।
लाभ कुछ होता नहीं
मात्र बात-चीत से
करो ठोस कार्य का
निश्चय दृढ़ मन से ।
रूप असंख्य
हैं तेरे भ्रम के,
होते भ्रमित क्यों
उनसे तुम जूझ के ।
भ्रम यह मिटेगा नहीं
बिना अभ्यास के,
होते दूर ये सभी
केवल अभ्यास से ।
शब्द योग नाम है
सहज अभ्यास का,
प्राप्त करो, कौशल
इसके विधान का ।
दर्शन करोगे तुम
निज सत्य रूप का,
मन जब अमल होगा ।
लाभान्वित होगे यों
सहज-मार्ग से,
मर्त्य भव सागर को

पार कर जाओगे।
दर्शन करोगे तुम
निज सत्य रूप का
मन जब अमल होगा।
वैसे ही
ओ साधु !
सत्सङ्ग की प्रभा से
अपना प्रयोजन
सिद्ध कर पाओगे।

पारब्रह्म का अर्थ "ब्रह्म के पहले" या "ब्रह्म के परे" है। तीन गुणों से युक्त त्रिदेहधारी ब्रह्म के पूर्व जो दशा थी या होती है उसे पारब्रह्म कहते हैं। यह वह दशा है जिसमें तब तक विकास और चिन्तन की इच्छा व्यक्त रूप में न थी। केवल माया की गुफा में वास्तविकता की छाया पड़ने से वह व्यक्त हुआ था। चूँकि हमने उसे भावात्मक आदर्श, देह जगत से सर्वथा भिन्न, मान लिया है और उसके रूप को लक्ष्य बना लिया है इसलिए वह पारब्रह्म कहलाता है। उसका नाम शुद्ध ब्रह्म है। जो शारीरिकता के दोष से हीन है वह शुद्ध है। और वह जिसमें शारीरिकता है, सबल ब्रह्म है। यह हिरण्यगर्भ की अवस्था है। सुषुप्ति की दशा के समान है। शुद्ध ब्रह्म इसके परे है। सन्तों ने इसे काल पुरुष, भँवर गुफा और महा-काल पुरुष कहा है; और वह भँवर गुफा का अधिष्ठाता है।

ज्ञानी इसे ही सब कुछ समझता है। आधार अथवा शाश्वत नींव=अधिष्ठान, कूटस्थ की दशा इससे ऊँची होती है। सन्तों ने उसे सत्पुरुष कहा है जो सत्यलोक का अधिष्ठाता है। चौथी अवस्था को तुरीया कहते हैं और यह हर त्रिगुणात्मक संसार के शीर्ष पर पाया जाता है। इस चौथी अवस्था से मुक्त कोई भी वस्तु नहीं है।

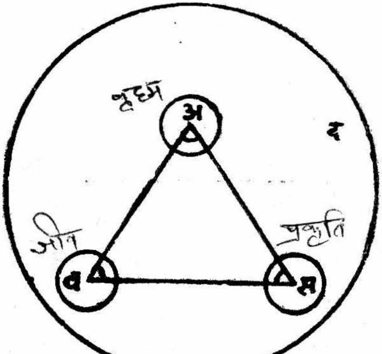

चित्र १

एक बड़ा वृत्त है जिसमें एक बड़ा त्रिकोण है जिसके तीन कोनों पर छोटे त्रिकोण हैं जो क्रमशः अपने अपने विशिष्ट वृत्तों में बने हैं। बड़ा वृत्त 'द' आधार या उपस्तर है। यह चौथी बड़ी अवस्था है। शेष त्रिकोणों के वृत्त क्रमशः उन त्रिकोणों की चौथी अवस्थायें हैं। 'अ' त्रिकोण का वृत्त ब्रह्म है, 'ब' त्रिकोण का वृत्त जीव है और 'स' त्रिकोण का वृत्त प्रकृति है। ये त्रिकोण

केवल व्याख्या के उद्देश्य से बनाये गये हैं। वास्तव में, ब्रह्म का त्रिकोण अपने वृत्त सहित सभी को आवृत किये रहता है। जीव और प्रकृति के त्रिकोण भी उसी के अन्दर मध्य में होते हैं। ब्रह्म ऊपर ऊँचाई पर है और जड़ प्रकृति नीचे है। भाव को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

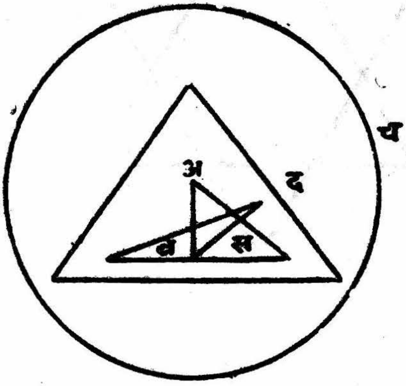

चित्र २

'अ' ब्रह्म है, 'ब' जीव और 'स' प्रकृति। ये तीनों त्रिकोण साधारण हैं। 'द' एक बड़ा त्रिकोण है जिसमें तीनों त्रिकोण स्थित हैं। यह पारब्रह्म है। वृत्त 'च' आधार और अधिष्ठान है। जीवत्व वस्तुस्थिति है और ब्रह्मत्व उद्देश्य। ज्ञानी जीव और ब्रह्म दोनों के गुणों को लाँघ कर ब्रह्म की वास्तविकता को (जो पारब्रह्म है) अपना उद्देश्य मानकर उसमें लय होने का अभ्यास करते हैं। वे उस उद्देश्य को सर्वस्व मानते हैं और

सन्तुष्ट रहते हैं। यह भी बिना अभ्यास के नहीं प्राप्त किया जा सकता।

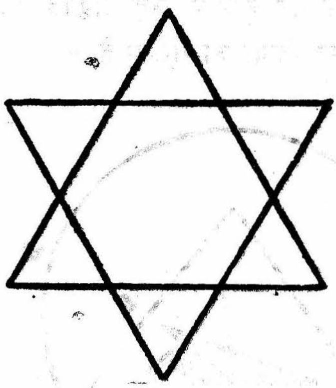

चित्र ३

(१) ब्रह्म के त्रिगुण संसार में कारण, सूक्ष्म और स्थूल जिन्हें आत्मा, हृदय और शरीर कहते हैं, होता है।

(२) जड़ अथवा प्रकृति के त्रिगुण संसार में कारण द्रव्यात्मकता, सूक्ष्म द्रव्यात्मकता और स्थूल द्रव्यात्मकता होती है।

(३) जीव के त्रिगुण संसार में भी कारण, सूक्ष्म और स्थूल अर्थात् आत्मा, हृदय और शरीर होते हैं।

इनके परे चौथी अवस्था है जिसे तुरीया कहते हैं। परन्तु

उस तुरीया को जो पारब्रह्म के शीर्ष पर होता है विशेष महत्त्व दिया गया है।

१. पारब्रह्म तुरीया
२. ब्रह्म तुरीया
३. जीव तुरीया
४: प्रकृति तुरीया
५. अधिष्ठान तुरीया

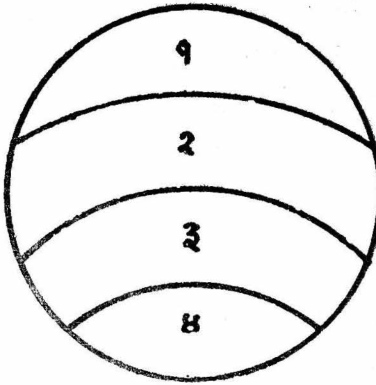

चित्र ४

१. पारब्रह्म की चौथी अवस्था

२. ब्रह्म की चौथी अवस्था

३. जीव की चौथी अवस्था

४. द्रव्य या प्रकृति की चौथी अवस्था

५. अधिष्ठान की चौथी अवस्था

जब तुरीया या चौथी अवस्था का ज्ञान होगा तो त्रिगुण का भी ज्ञान आवश्यक रूप से होगा। यह दोष है, न कि पूर्णता की दशा।

जब तुरीया में लय अवस्था अथवा तुरीयातीत अवस्था

आती है तो उसमें कुछ भी दोष नहीं होता। इस तुरीयातीत में भी लय की अवस्था होती है जिसमें रंचमात्र भी अपूर्णता नहीं होती है। इस दशा को "सत्" या "शुद्ध अस्तित्व" कहते हैं। जो इसमें लय होता है उसे उसकी कोई भी अनुभूति नहीं होती; क्योंकि अनुभव प्राप्त करना इसका प्रारम्भ होता है अन्यथा वह लय की उस अवस्था में स्वयं ही अनुभव स्वरूप हो जाता है।

तुरीया या चौथी अवस्था एक अन्तहीन दशा है जिसमें अनुभव जाग्रत होता है। जाग्रत अवस्था सीमित होती है। स्वप्नावस्था और सुषुप्ति असीम होते हैं। उसी प्रकार तुरीया असीम है। जिस प्रकार जाग्रत अवस्था का जीव, स्वप्नावस्था का जीव और सुषुप्ति का जीव सीमित होता है उसी प्रकार तुरीया के जीव को भी जीव के दृष्टिकोण से सीमित होना पड़ेगा। परन्तु लोग सुषुप्ति को क्यों अज्ञान समझते हैं? चूँकि इसमें जानने को कुछ रहता ही नहीं। यदि कोई जानना चाहे भी तो क्या जानेगा? उस दशा में प्रविष्ट होने पर जाग्रत और स्वप्न दोनों तत्त्व, सिमट कर बीज रूप में लय और एक हो जाते हैं। इस दृष्टिकोण से उसमें कोई चैतन्यता नहीं रहती अर्थात बेखबरी रहती है। इसलिए लोग इसकी वास्तविकता को न समझकर इसे अज्ञान और अँधेरा कहते हैं। यद्यपि ज्ञान का बीज और मूल सब इसी में रहता है और इसी से प्रस्फुटित होता है पर सुषुप्ति से ही हर चीज में ताज़गी आती है।

यदि किसी प्रकार कोई ऐसा उपाय मिल जाय जिससे सुषुप्ति की अवस्था में घुसकर उसकी दशा का ज्ञान प्राप्त किया जा सके तो उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है । यह नितान्त सम्भव है। पर, शर्त यह है कि सोचने वाला हृदय व्यापक रूप से जाग्रत रहे, और, इसी के लिये अभ्यास है। जब हम जाग्रत अवस्था में अपने हृदय की सहायता से स्वप्न और सुषुप्ति के बारे में चिन्तन कर सकते हैं तो सुषुप्ति में भी किसी सीमा तक जाग्रत और स्वप्न के बारे में जानने की सम्भावना हो सकती है।

परन्तु शर्त यह है कि हृदय मनन करने की अपनी प्रवृत्ति को बनाये रखे और कोई शक्ति इससे उस दशा के बारे में जाँच पड़ताल करे। यह सामान्यतया देखा जाता है कि एक व्यक्ति सो जाता है और गहरी निद्रा में चला जाता है और एक दूसरा व्यक्ति उससे प्रश्न करता जाता है। सोता हुआ मनुष्य उन प्रश्नों का उत्तर तो देता है पर जगाने पर वह नहीं जानता कि उससे प्रश्न किया गया था।

तुरीया दिव्य दृष्टि की दशा है। जीव-तुरीया सदैव जीव के साथ रहती है और कभी अलग नहीं होती है। यह सुरत से सम्बन्धित होती है। उदाहरणार्थ, एक ग्रामीण को लीजिये। किसी प्रकार उसके जीव-दशा की तुरीया जाग्रत हो जाती है। लोग उस पर भूत, प्रेत आदि का सवार होना कहकर और उसे

मार पीटकर, कष्ट देकर, उसकी उस तुरीया अवस्था को दबा देते हैं। पर जीव-तुरीया तो जीव ही के साथ रहती है। परन्तु वह ज्ञान के साथ उसमें नहीं प्रविष्ट हुआ, अतः उसकी लयावस्था में कुछ दोष रह गया और वह हानिकर सिद्ध हुआ। यदि वह पूरी समझदारी या ज्ञान से प्रविष्ट हुआ होता तो हालत कुछ और ही होती। हर व्यक्ति में हर दशा पायी जाती है। कुछ में यह दबी होती है और कुछ में यह जाग्रत होती है। सभी व्यक्ति इसी के आश्रय से रहते हैं। कोई-कोई बच्चे किसी किसी बात को इतनी अच्छी विधि से समझ लेते हैं कि प्रौढ़ बहुत प्रयास के बाद भी नहीं समझ सकते। उसी प्रकार किसी भोले-भाले ग्रामीण पुरुष-स्त्रियों में भी वैसी ही दिव्य दृष्टि पायी जाती है। कुछ में यह थोड़े ही ध्यान से जाग्रत हो जाती है और कुछ के लिए अधिक श्रम और अभ्यास की आवश्यकता होती है, और उसके बाद भी सरलता से उपलब्धि नहीं होती। इस जीव तुरीया का जागरण सुषुप्ति की भाँति है। इस पर विश्वास कम किया जाता है। चूँकि ब्रह्म तुरीया भी काल चक्र के अन्दर होता है—इसे प्राप्त करने के पश्चात् भी पतन होता है और प्राप्त होकर भी यह स्थायी नहीं रहता है। परन्तु चौथी दशा की तुरीयावस्था एकरस होती है। शनैः-शनैः अभ्यास के द्वारा जब मन उसका रूप धारण कर लेता है तब इसमें स्थायित्व आ जाता है और वापसी की कोई संभावना नहीं रह जाती है।

———

अध्याय १६

साधन : १. सत्सङ्ग

२. अभ्यास

सद्गुरु की उपासना करनी चाहिए। वास्तविकता से संसर्ग सत्सङ्ग कहलाता है। अभ्यास, शब्दयोग के साधन की दक्षता का नाम है।

सद्गुरु के लक्षण हैं :

(१) उसे सत्यनिष्ठ होना चाहिए अर्थात् उसका वास चौथी स्थिति में और जीवनमुक्त दशा में होना चाहिए;

(२) उसे शब्द-अभ्यासी होना चाहिए अर्थात् शब्द अभ्यास द्वारा मानव मस्तिष्क के आन्तरिक क्षेत्रों पर उसे नियन्त्रण रखना चाहिए;

(३) उसकी आँखें चमकदार होनी चाहिए और मस्तक चौड़ा;

(४) उसे भक्ति, ज्ञान एवं कर्म का ज्ञान होना चाहिए। उसे प्रश्नों के उत्तर देने में सक्षम होना चाहिए और प्रश्नकर्त्ता की जबान पर लगाम नहीं लगाना चाहिए;

(५) उसे अपना सम्बन्ध आध्यात्मिक चीजों से रखना चाहिए अर्थात् उसे उनकी ओर ध्यान देना चाहिए। ये सब साधारण पहचान हैं। किन्तु वास्तविक आन्तरिक पहचान यह है कि वह अपने शिष्यों को अपनी जागृत आन्तरिक दृष्टि से दैविक प्रभाव या कृपा प्रवाहित करके सन्तुष्ट करने की क्षमता रखता हो।

मन का निरोध करो
तीसरे तल में,
परम ज्ञान उद्भासित
होता इस योग से;
दशा जब परिलक्षित
होती यह शीर्ष में
कमल सहस्र दल
खिल तब उठता है।
विविधा का देश यह
विराट का निवास है,
क्रियाशील ब्रह्माण्ड
इस प्रकार दीख पड़ा;
मनोयोग लग गया
स्वामी निकुञ्ज में,
ज्योति परिलक्षित हुई
दिव्य शब्द सुन पड़ा,

ध्वनि मनोहारी
शंख और घण्टे की,
वार्ता मधुर,
और सैन ज्योति की।
अनहद नाद सुन पड़ा,
ज्योति दिखी ईश निरत
हुआ, मन निग्रहीत
निरुपम सुख-अवतरित;
होता निमग्न मन
अत्युच्च प्रीति में,
पुलकित, आह्लादित
नाम पुनीत में।
वास किया कुछ दिवस
सहस्र दल कमल में,
इच्छा एक जग उठी
दूसरे चरण की;
वक्र मार्ग चढ़ गया
त्रिकुटी तक दौड़ गया
देखी ज्योति ॐ की।
होगी पराभूत
मन की हिलोरें
गुरु की कृपा

एवं पूत ॐ नाम से;
स्वर्णिम प्रदेश यह
होता है गुरु का
मनती जयन्ती है
अन्तर्भूत-सत्सङ्ग
के वचनों की ।
अरुण सूर्य और
अरुण वर्ण की पताका,
सुनने को ॐ ध्वनि
थप-थप मृदङ्ग की ।
नियत करो दृष्टि को
मात्र एक बिन्दु पर
श्रवण करो शब्द को
लीन मनोयोग से
काया हो अविचल,
प्राप्त होवे तब ही
अग्रेतर दर्शन ।
करता परिपूर्ण है,
त्रिकुटी पर ध्यान जो
कहलाता सन्त है,
काया का स्वामी;
अन्तर अभ्यास है

यही, प्रियवन्धु !
चलता यहाँ से है
पथ अब गुरु का
अनस्तित्व मण्डल को
होता जब अग्रसरित
रुचिकर हो जाता है
मन का द्वैत नैसर्गिक;
करो पान पीयूष
शीतल कौमुदी का।
है वह बड़-भागी
जो पाता स्रोत इसका
बेला सारङ्गी की
ध्वनियाँ मनोहारी
अन्तर में गूँज उठीं
लेवें हिलकारी।
नियत रूप मन का
देख अब नर्तन
शून्य के भवन में,
देखो और परखो
अपनी ही दशा को
प्राप्त करो
आनन्द में

अक्षणिक विश्राम ।
घोर तम व्याप्त
होता जहाँ है
मन का स्वरूप भी
रहता अज्ञात है;
पूर्ण निषेध की
प्रशान्त तन्मयता
वर्णित हो पावे
कैसे ?
इसकी विशालता !
शीर्ष ब्रह्म रन्ध्र का
होता मनोरम है,
इसका प्रदाता है
मात्र नाम सक्षम ।
सूर्य सप्त वर्ण का
वहाँ जगमगाता है
बेला मधुर सुनो
मन को प्रमोद करो ।
करो आप्लावन
दिव्य-सर मानस में
जान लो रहस्य—
हंसगति गमन में ।

करो आक्षालन,
मल-दोष कलि का
ले लो अचिर ही
ऋषियों की शुचिता।
करके विवेक से
नीर-क्षीर अलग-विलग,
पाओ विश्राम परम
हंसरूप धर के।

अध्याय १७

बन्धन और मुक्ति

कृत्रिम भावना और कृत्रिम सम्बन्धों के प्रति दृढ़ता का भाव धर्म की ही भाँति एक मानसिक विचार था। यह मानव की एकदेशिक इच्छा शक्ति की क्रीड़ा थी। अब प्रश्न है: यह जीवन किस प्रकार बन्धन है? उत्तर है कि केवल विचार ने इस क्रीड़ा को बन्धन का एक कारण बना दिया।

इच्छा ने मन में
लोभ उपजाया,
इसने मन को
कस के जकड़ा।
लोभ ने प्रबलता
शनैः शनैः प्राप्त की
आदि कारण बन्धन का
ऐसे बना वही।
बँध गया मन
उस दृढ़ता में
'मैं'-पन के सूत्र से

प्राप्त किया इसने
ताने-बाने का रूप
सर्वत्र गया जाल बुन
इच्छा यों बन्धन की
और भी बढ़ गयी
दोष और विपत्ति की
यह एक खान बनी;
सर्प और छछुन्दर
की गति के जैसा
बना रहा यह नितान्त अज्ञानी।
लोभ यह त्यागता नहीं
न तो संसर्ग ही,
चाहता निवास करना
इसके साथ-साथ ही;
करता प्रवास है
जहाँ कहीं लोभ है
कैसा विलक्षण और
अद्‌भुत सान्निध्य है।
है वह बन्धन काल-रज्जु का
बिरला ही कोई इसे देखता
देता विधाता जब
अपनी परम कृपा

छूमन्तर होती है
तब ही मन की व्यथा।

उदाहरण के लिए, एक अभिनय में एक व्यक्ति राजा इन्द्र की भूमिका स्वीकार करके रंगमंच पर आता है। प्रबल भाव के कारण वह अभिनय काल में तथा उसके पश्चात् भी अपने को इन्द्र समझने लगा तथा यह भाव उसके हृदय में घर कर गया। लोग इस पर हँसने लगे और उसे समझाने लगे पर वह समझ नहीं सका। इसका फल यह हुआ कि उसे दुःख की अनुभूति हुई और वह परिहास की वस्तु बन गया।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। एक व्यक्ति ने स्वप्न देखा कि वह बीमार है। और, यह धारणा इतनी दृढ़ हो गयी कि जागृत होने पर भी विद्यमान रही। अब यह जागृत और सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं में इसी भ्रम के ऊहापोह में रहने लगा। यद्यपि वह बिल्कुल स्वस्थ दीख पड़ता है पर वह उसे कभी स्वीकार नहीं कर सकता। वह अकारण ही दुःखी रहता है। यह बन्धन का एक दूसरा उदाहरण है।

एक और उदाहरण लीजिये। एक व्यक्ति प्रेत के भ्रम में फँसा है। उसने वृक्ष के एक ठूँठ को अँधेरी रात में देखा और उसे प्रेत समझ लिया। उसकी विचार शक्ति ने उस ठूँठ को एक लम्बे दाँतों वाला प्रेत बताया। वह डर गया, भागा, पर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। उसे चेतना

आयी और उसने आँखें खोलीं तो प्रेत के भ्रम में जकड़ गया। वह विश्रृंखलित बातचीत करने लगता है तथा पागल मनुष्य की भाँति इधर-उधर घूमता है। इस प्रकार वह दुःखी है। जब भ्रमजनित विचार इस प्रकार एक मनुष्य को कष्ट देता है तो वह इसके बन्धन में बँध जाता है और दुःखी हो जाता है। यह जगत भ्रामक विचारों का स्थान है जहाँ हजारों भ्रमपूर्ण घटनाएँ घटती हैं। भ्रामक विचारों के जाल में फँसा हुआ व्यक्ति दुःखी होने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, भ्रमजनित विचार हैं। गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—एक भ्रामक विचार है। हिन्दू, मुस्लिम, इसाई, यहूदी—एक भ्रामक विचार है। धर्म, परम्परा, रीति रिवाज, पंथ—ये सभी भ्रामक विचार हैं। जो लोग बन्धन की बेड़ी में फँस गये हैं इतने चिन्तित हैं कि वे वास्तविकता को समझने में असमर्थ हैं। यह सभी बन्धन वास्तविक नहीं हैं। यह सभी कृत्रिम, भ्रामक, वैचारिक और काल्पनिक हैं। इनका क्रम बहुत दूर तक गया है। यहाँ तक कि मृत्यु के बाद दूसरे लोकों में भी इसका अस्तित्व बना रहता है।

यदि कोई इस बन्धन को समझ सकता है और सुख का आनन्द लेने तथा दुःख की पीड़ा सहन करने के पश्चात मन में उनके प्रति अरुचि पैदा हो जाती है तो आप कितने ही मुक्त व्यक्तियों को उसी रूप में पायेंगे जिस रूप में वे बद्ध हैं। ऐसे व्यक्ति इच्छाओं के उत्पन्न होते ही समझाने-बुझाने और प्रशान्त

करने में लग जाते हैं। वे लोग ऊँची पहुँच के विज्ञ जन कहलाते हैं। वे बन्धन में पड़े लोगों को उचित उपाय और निर्देश से मुक्त करते हैं। उनका अस्तित्व बड़े भाग्य की बात होती है। वे मुमुक्षु या मोक्ष के इच्छुक कहलाते हैं और वे उच्चकोटि के अधिकारी होते हैं। परन्तु ऐसे ईश्वर-भक्त जो बन्धन से प्रेम करते हैं, बड़े ही दुराग्रही और दुर्दान्त होते हैं। वे बन्धन को तोड़ना नहीं चाहते वरन अपने को विपत्ति से केवल बचाना चाहते हैं। उनकी यही क्षमता होती है। उनके रोग के चिकित्सक सामान्यतया धर्म प्रचारक होते हैं जो एक भ्रम को दूसरे भ्रम से ठीक करते हैं और धीरे-धीरे बहुतों को मुक्त किये होते हैं। तीसरी श्रेणी के लोग इससे भी गये बीते होते हैं वे भली-भाँति जानते हैं कि रीति-रिवाज, तौर-तरीके, धर्म-विशेष और परम्पराएँ अत्यन्त बुरे बन्धन हैं, परन्तु वे सभी सुधारों के शत्रु हैं। जो उन्हें मुक्त करते हैं, स्वभाव से कुछ कठोर होते हैं। वे कठोरता से कार्य लेते हैं और अपने शिष्यों के विश्वासों एवं प्रतीतियों को धराशायी कर देते हैं। बड़ी निर्दयता और बलपूर्वक वे भ्रामक विचारों की जड़ खोद डालते हैं। वे हृदय के अच्छे होते हैं परन्तु उन्हें जब कोई उपाय नहीं दीखता तो वे बड़ी कड़ाई और शक्ति बल से कार्य लेने को विवश हो जाते हैं।

एक चौथे प्रकार के मुक्तिदाता व्यक्ति होते हैं जिन्हें सन्त

कहते हैं और जो लगभग सभी धर्मों और समुदायों में पाये जाते हैं। वे बड़े सहानुभूतिपूर्ण, बड़े दयालु और हृदय के बड़े अच्छे होते हैं। वे शिष्यों को जागृत करते हैं और मित्र, दार्शनिक पथ-प्रदर्शक के रूप में व्यवहार करते हैं। वे भय, त्रास, खण्डन और मार-काट की प्रणाली नहीं अपनाते, वे वास्तविकता का पता सुरक्षित और शान्तिमय ढंग से देते हैं। वे अपने सत्सङ्ग का क्रम बढ़ा कर अपने सत्सङ्ग का लाभ माया में फँसे लोगों तक पहुँचाते हैं। धर्म अथवा परम्परा के प्रति बिना किसी विकर्षण के वे जिज्ञासुओं की प्रकृति के अनुसार व्याख्या करते हैं। उनपर अपनी छाप छोड़ते रहते हैं और उन्हें अपने जैसा बनाते रहते हैं। मुक्तिदाताओं के ये विभिन्न प्रकार हैं। रोगी अवश्य ही किसी न किसी प्रकार के उपचार के योग्य है। यह अवश्य है कि कुछ रोगी चिकित्सक के परामर्श के अनुसार कार्य करते हैं और अच्छे पथ्य का विचार करके औषधि का प्रयोग करते हैं और शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ कर लेते हैं। कुछ अज्ञानवश रोग को निमंत्रण देते हैं। कुछ तो परहेज नहीं करते। कुछ चिकित्सक के परामर्श की परवाह नहीं करते। यही कारण है कि चिकित्सकों की उपचार पद्धति में अन्तर होता है। रोगियों में वे सर्वोत्तम हैं जो चिकित्सक में विश्वास रखते हैं; जो खुशी से औषधि लेते हैं और जो कड़े पथ्य पर रहना चाहते हैं। ऐसे रोगी आसानी से और कम समय में स्वास्थ्य लाभ कर लेते हैं। दूसरे प्रकार के रोगी चिकित्सक की

बात तो सुनते हैं पर पथ्य का विचार कदाचित ही करते हैं। उनके चिकित्सक उन्हें समझाते हैं, फुसलाते हैं और साधारण और मन्द चिकित्सा द्वारा उन्हें धीरे-धीरे सामान्य स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। तीसरे प्रकार के रोगी अच्छे तो हो जाना चाहते हैं पर पथ्यापथ्य नियमों को नहीं मानते हैं। वे कड़वी औषधियों को नापसन्द करते हैं और कभी-कभी अपने चिकित्सक को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनके लिए प्रकृति एक कठोर हृदय का चिकित्सक भेजती है जो रोगी के सीने पर बैठकर बलपूर्वक औषधि की घूँट पिलाता है। वह रोगी की बात कभी नहीं सुनता है और उनका उपचार अत्यधिक निर्दयता, कठोरता, और जबरदस्ती के साथ करता है। वह अपने रोगी की भावनाओं की कभी भी चिन्ता नहीं करता। चौथे प्रकार के चिकित्सक सन्त होते हैं जो रोगियों के हमदर्द बनकर सहूलियत से उपचार करते हैं। वे रोगी को प्रेम से अपने वश में करते हैं, चाहे वे कितने भी दुर्दान्त क्यों न हों, और उन्हें स्वास्थ्य लाभ कराते हैं। रोगी के उपचार की गुणात्मक योग्यता हर हालत में उसकी दशा पर निर्भर करती है।

———

अध्याय १८

मुक्ति का स्वरूप

दुःखों से छुटकारा पाना मुक्ति है। मुक्ति स्थायी और अस्थायी दोनों होती हैं। जहाँ मुक्ति इस प्रकार की होती है कि दुःख का बन्धन कभी भी नहीं मालूम हो तो यह स्थायी होती है। यदि हम मुक्ति को स्थायी कह सकते हैं तो क्या बन्धन भी स्थायी होता है ? नहीं। बन्धन स्थायी नहीं होते, वे अस्थायी होते हैं। यदि बन्धन स्थायी होते तो उनसे मुक्ति की कोई संभावना नहीं रहती। अब प्रश्न है कि यदि बन्धन अस्थायी हैं न कि स्थायी तो मुक्ति भी अस्थायी होगी। बन्धन फिर भी अस्थायी है परन्तु मुक्ति स्थायी।

कुछ लोग कहते हैं कि पाषाण की भाँति संवेग और गति से रहित होना मुक्ति है। कुछ लोग सोचते हैं कि बूँद की भाँति सागर से एक हो जाना ही मुक्ति है। अन्य लोग कहते हैं कि ज्योति में ज्योति मिल जाना मुक्ति है। कुछ लोगों का विश्वास है कि जो ऊँचा उठ जाय वह मुक्त हो जाता है। परन्तु इनमें से कोई भी ठीक नहीं है। मानसिक आसक्ति बन्धन, और विरक्ति मुक्ति है। इसे त्याग या वैराग्य भी कहते हैं। त्याग और

वैराग्य को भी मुक्ति कह सकते हैं। इन दोनों में अन्तर निम्न-लिखित है जो एक सन्त और सर्वस्व त्यागी में भी पाया जाता है। जो आसक्ति में विरक्ति और विरक्ति में आसक्ति देखते हैं सन्त कहलाते हैं। ऐसी है उनकी मुक्ति। वे आसक्ति और विरक्ति के स्तरों को पार करके शुद्ध अस्तित्व की दशा को पहुँच जाते हैं। यह प्रवृति (अस्ति) मार्ग है। जो सब कुछ त्याग देता है वह एक अनासक्त व्यक्ति है। वह पूर्ण अनासक्ति के पार आसक्ति की ओर जाता है और यह मार्ग नेति का है। दोनों के इच्छित लक्ष्य और आदर्श एक ही होते हैं। एक इसके सम्बन्ध में पूर्ण स्पष्ट होता है जबकि दूसरा स्पष्ट दृष्टि से हीन सा प्रतीत होता है। परन्तु वह भी पूर्ण निषेध नहीं है। निषेध का निषेध किस प्रकार हो सकता है? यह तो निरर्थक शब्दों की केवल जादूगरी लगती है। आन्तरिक रूप से वह भी आसक्ति (सम्बन्ध) को उद्देश्य में रखता है और उसको स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। निषेध या त्याग शुद्ध ज्ञान का मार्ग है और आसक्ति प्रेम और भक्ति का मार्ग है जो नितान्त सकारात्मक है।

———

अध्याय १८

मुक्ति का विषय

पाने का उपाय यह है:
करो गुरुभक्ति एक जन्म में
दूसरे में नाम जप;
तीसरे में मुक्ति पाओ
चौथे में है लक्ष्य प्राप्त।
अर्थात् :—
प्रथम पर्व जीवन का
है आत्मसंयम का,
दूसरा गृहस्थी का,
बनना बनवासी है तीसरे में,
चौथा प्रदाता है लक्ष्य का।

गुरुभक्ति का अर्थ केवल उपासना है। कुछ समय गुरु के सहवास में बिताओ और अपने सन्देहों का निवारण कर लो। तब आन्तरिक अभ्यास करो अर्थात् दिव्य नाम का जप-गान और कुछ समय तक उसकी शान्त गुनगुनाहट। यदि यह अभ्यास कुछ समय तक जारी रखा जाय तो मुक्ति मिल जायेगी। इसे जीवन-मुक्त दशा कहते हैं। कुछ दिनों तक इस दशा का आनन्द

लो और फिर स्वतः ही वास्तविक गन्तव्य तक पहुंच जाओगे जहाँ से वापसी नहीं होती। मुक्ति सन्तमत का उद्देश्य या आदर्श नहीं है। यह तो उपासना की सामान्य प्रक्रिया में स्वतः ही प्राप्त हो जाती है; और स्वभाव के नियम की प्रक्रिया में सत्सङ्गी अपने जीवनकाल में ही सरलता से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। श्रेष्ठता इसमें है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करें जो हमारे पास प्रारम्भ से ही है। केवल भ्रम के कारण हम वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। उपासना और भक्ति इसे स्पष्ट कर देते हैं। यह मौलिक वस्तु है। वह जो बन्धन का कारण होता है, जब विपरीत कर दिया जाता है तो मुक्ति प्राप्त करने में सहायता देता है। बन्धन के तीन कारण हैं—(१) स्मरण (२) ध्यान (३) भजन। जब इन तीनों का अभ्यास बाह्य वस्तुओं से सम्बद्ध होता है तो परिणाम पुनर्जन्म और बन्धन होता है। और जब उनका अभ्यास लक्ष्य को सदैव दृष्टि में रखे हुए आन्तरिक रूप से हृदय पर किया जाता है तो बाह्य और सतही बन्धन से मुक्ति मिल जाती है।

(१) स्मरण का अर्थ बारम्बार याद करना है। (२) ध्यान का अर्थ भाव का रखना (३) भजन का अर्थ मनन या सतत ध्यान है। गुरु की शिक्षा के अनुसार इन्हें उल्टा बाहर की ओर से रोक लगा दिया जावे और अन्दर की तरफ का पर्दा खोल दिया जाय तो शनैः शनैः मुक्ति का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा और मुक्ति प्राप्त हो जायेगी।

———